ISSN: 0971-8478

नवंबर 2019

₹ 22

आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित

साहित्य और संस्कृति का मासिक



लेख : मंगलेश डबराल • राजेन्द्र दानी • शंभु गुप्त • अजय ब्रह्मात्मज • अशोक वैरागी • अनिल शर्मा • नीरज कुमार मिश्र • सुशील मानव • भुनेश्वर भास्कर • विजयशंकर मिश्र • प्रांजल धर

कहानी : • ज्ञानरंजन • सुधांशु गुप्त • अरुणेन्द्र नाथ वर्मा

कविताएँ : • अरुण शीतांश • पंखुरी सिन्हा • अनामिका अनु • रंजिता सिंह 'फ़लक'

मातृवत स्नेह

आई.जे. पटेल

सरदार और गाँधीजी यरवदा जेल में 16 महीने साथ रहे। जब 8 मई, 1933 को गाँधीजी जेल से रिहा हुए तो उन्होंने एक वक्तव्य जारी किया, "जेल में सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ रहना खुशी की बात थी। मैं उनके असाधारण साहस और देशभक्ति से परिचित था लेकिन जिस ढंग से उनके साथ सोलह महीने जेल में बिताने का सौभाग्य मिला, वैसा कभी नहीं रहा था। उन्होंने मुझे जो स्नेह दिया, उससे मुझे अपनी प्रिय माता की याद आ गई। मुझे मालूम नहीं था कि उनमें ऐसे मातृवत गुण हैं। मुझे ज़रा भी परेशानी होती तो वे जग जाते। मेरे आराम की छोटी-छोटी बातों का वे ख़्याल रखते। वह और मेरे अन्य सहयोगी मुझे कोई भी काम करने नहीं देते। मुझे आशा है कि सरकार मेरी बातों पर विश्वास करेगी कि जब हम राजनैतिक मसलों पर बात करते तो वे हमेशा सरकार की कठिनाइयों का ख़्याल रखते। वे जिस तरह बारदोली और खेड़ा के किसानों की चिंता करते थे, वह कभी नहीं भूल सकता हूँ।"



गाँधीजी ने जेल में साथ रहते हुए सरदार के मातृ-हृदय को महसूस किया जो उनके चरित्र का अंतरतम अंश था और उनके बाह्य स्वरूप की सख़्ती में छिपा हुआ था। ¦नून की पढ़ाई के दौरान सरदार नडियाद में अपने मित्र काशीभाई शामलभाई के साथ रहते थे। काशीभाई के पिता के एक मित्र नडियाद के डूंगरभाई मुलजीभाई जाने-माने एडवोकेट थे। जब सरदार काशीभाई के साथ रहते थे, तभी डूंगरभाई की पत्नी छह महीने के एक बच्चे को छोड़कर चल बसी। काशीभाई की माँ इस बच्चे को अपने घर ले आईं। काशीभाई और सरदार ने इस बच्चे को माँ की तरह पाला-पोसा। सरदार बच्चे को साथ लेकर सोते, रात में दो-तीन बार दूध पिलाते। पूरी देखभाल करते जैसे माँ अपने बच्चे का करती है। सरदार ने बच्चे के तीन वर्ष का होने तक उसके पालन-पोषण में खूब परिश्रम किया। उनके संयमित स्वभाव के कारण लोगों को विश्वास नहीं होगा कि उन्होंने माँ की तरह बच्चे की देखभाल की लेकिन उनके दिल में अपने सहभागियों और कार्यकर्ताओं के लिए अपार प्रेम था। वे हर मौ¦ पर उनका ख़्याल रखते और किसी के जाने ब§र उनके लिए ज़रूरी व्यवस्था करते।

उनके हृदय का स्नेह, जेल से उनके लिखे कुछ पत्रों से भी झलकता है। 16 अप्रैल, 1934 को मणिबेन को अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा : "मिठुबहन इन दिनों मरोली, राज पिपला और वंसडा रजवाड़ों का दौरा कर रही हैं। ईस्टर की छुट्टियों में उन्होंने मंगलदास पकवासा को साथ ले लिया। मरोली से लौटते समय वे बीमार हो गईं। कल्याणजी भी उन दोनों के साथ थे। इस समय सभी आश्रम बंद पड़े हैं, इसलिए सभी मरोली में ठहरे हुए हैं। कुंवरजी वहाँ वेदछी के चुनीभाई के साथ हैं, चुनीभाई और केशुभाई भी वहाँ हैं। चुनीभाई की पत्नी अहमदाबाद गईं, वहाँ ज़ीने से गिर पड़ीं और एक महीने बिस्तर पर पड़ी रहीं। पांड्याजी स्वस्थ हैं लेकिन सभी दांत टूट जाने के कारण केवल दूध पीते हैं। जेल से रिहा होने के बाद रविशंकर रास गाँव गए हैं और लिखा है कि उनका स्वास्थ्य ठीक है। बूढ़े अब्बासजी प्रजामंडल के अध्यक्ष हो गए हैं। इस उम्र में भी वे खूब घूमते-फिरते हैं। करीब डेढ़ सौ गाँवों में घूम-घूम कर उन्होंने सात हजार रुपये जमा किए। कांजीभाई का भतीजा रणधीर हाल ही में ठाणा जेल से रिहा हुआ है। कांजीभाई का बड़ा बेटा (हितेंद्रभाई देसाई) जो यहाँ जेल में है, अगले महीने रिहा होगा। चन्द्रभाई भड़ौच में है। जयरामदास ठीक-ठाक हैं लेकिन बवासीर की तकली¤ है। मैंने उनकी बेटी प्रेमी को उनके लिए फल भेजने को लिखा है।"

सरदार पटेल जेल में भी लोगों की चिंता किया करते थे। वे लोगों को अपने परिवार का सदस्य समझते थे और अपने सहयोगी-कार्यकर्ताओं के लिए उनके दिल में अपार स्नेह था।

उनके जीवन की अनेक दूसरी घटनाओं से भी उनके हृदय की दया झलकती है। जब वे पेटलाड हाईस्कूल में पढ़ते थे तो गर्मी के दिनों में स्कूल सवेरे लगता था। छात्रों को बड़े सवेरे जगना पड़ता था ताकि लंबा रास्ता तयकर समय पर स्कूल पहुँच सकें। एक दिन, स्कूल जाते हुए लड़कों ने अचानक वल्लभभाई को नहीं देखा। सब एक-दूसरे से पूछने लगे। वल्लभभाई के आने पर उन्होंने बताया कि रास्ते में एक पत्थर गहरा गड़ा था, उसे बाहर निकालने में मुझे देरी हो गई। यह पत्थर उनके और दूसरों के लिए बाधक था। यह घटना उनके नि:स्वार्थ प्रेम को दर्शाती है, जिसके कारण दूसरों का दुख-तकली¤ दूर करने में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

सरदार सत्याग्रह, खादी, कुटीर उद्योग, बुनियादी तालीम, हरिजनों और पिछले वर्गों के कल्याण कार्यों में लगे छोटे और बड़े कार्यकर्ताओं के बीच संपर्क-सूत्र थे। उन्होंने उनमें एक परिवार की भावना भरी थी। जब भी वे किसी क्षेत्र में जाते, पास आए कार्यकर्ताओं से स्नेहपूर्वक बात करते, उनका कुशल-क्षेम पूछते और उनके हित में जो भी कर सकते थे, करते। ❐

(प्रकाशन विभाग की पुस्तक 'आधुनिक भारत के निर्माता : सरदार वल्लभभाई पटेल' से)

ISSN-0971-8478

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 75, अंक : 7, पूर्णांक : 900
नवंबर, 2019, कार्तिक-अग्रहायण 1941

प्रधान संपादक
राकेशरेणु

संपादक
फरहत परवीन
आवरण चित्र : **अनुप्रिया**
आवरण सज्जा : **राजेश कुमार**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल, प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 601डी, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फ़ोन : 2436 2915
ई.मेल : ajkalhindi@gmail.com
website : www.publicationsdivision.nic.in
फेसबुक www.facebook.com/publicationsdivision

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 230 रुपए, दो वर्ष : 430 रुपए
तीन वर्ष : 610 रुपए

सदस्यता संबंधी पूछताछ :
व्यापार व्यवस्थापक
कमरा नं. 56, सूचना भवन
सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन नं. 011-24367453
ई-मेल : pdjucir@gmail.com
टाइपसेट : **एजुकेशनल स्टोर्स, लेजर टाइप सेटिंग**

इस अंक में

लेख

6. संस्मरण : जैसे अमरूद की खुशबू - **मंगलेश डबराल**
9. साक्षात्कार : असमंजस नहीं, निर्णय करते... (ज्ञानरंजन से बातचीत) - **राजेन्द्र दानी**
16. संस्मरण : तारामंडल के नीचे एक आवारागर्द - **ज्ञानरंजन**
21. साक्षात्कार : निर्मल आनंद की अनुभूति का पर्याय... (प्रकाश मनु से बातचीत) - **अशोक बैरागी**
25. हिन्दी का बाल-रंगमंच : वर्तमान परिदृश्य - **अनिल शर्मा**
30. कला : बालमन की अभिव्यक्ति - **भुनेश्वर भास्कर**
39. दलित-जीवन-विमर्श और अर्जुन कवि - **शंभु गुप्त**
43. समकालीनता का प्रश्न (संदर्भ बिक्रम सिंह की कहानियाँ) - **नीरज कुमार मिश्र**
46. श्रद्धांजलि : भाषा में भय के मनोविशेषज्ञ - **सुशील मानव**
49. वह हम सभी के अंदर हैं - **अजय ब्रह्मात्मज**
52. गुरु नानक का रचना पक्ष - **महीप सिंह**
53. संगीत आजकल : गायन की विभिन्न धाराओं... - **पं. विजयशंकर मिश्र**
55. पत्रिका आजकल : विचारों की गंभीरता को रूपायित... - **प्रांजल धर**

कहानी

12. शेष होते हुए - **ज्ञानरंजन**
28. स्माइल प्लीज़! - **सुधांशु गुप्त**
32. अपना-अपना धर्म - **अरुणेन्द्र नाथ वर्मा**

कविताएँ

35. तीन कविताएँ - **अरुण शीतांश**
36. तीन कविताएँ - **पंखुरी सिन्हा**
37. पाँच कविताएँ - **अनामिका अनु**
38. दो कविताएँ - **रंजिता सिंह 'फ़लक'**

पुस्तक परिचय

58. कस्तूरी परिमल प्राचीन भारत - **प्रियंका कुमारी**

हमारे विक्रय केंद्र : **नई दिल्ली:** सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260, **लखनऊ** : हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455, **कोलकाता:** 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030, **पटना** : बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, दूरभाष : 0612-2683407, **मुम्बई** : 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवीं मुम्बई, दूरभाष : 9522-27570686, **बंगलुरू** : एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244, **अहमदाबाद** : अखंडानंद हॉल, द्वारा पत्र सूचना कार्यालय, द्वितीय तल, सीएनआई चर्च के पास, मदर टेरेसा रोड, भद्र, दूरभाष : 079-26588669, **हैदराबाद** : कमरा नं. 204, द्वितीय तल, सी.जी.ओ. टॉवर्स, कावादि गुडा-500080, **चेन्नई** : राजाजी भवन, बेसेंट नगर, दूरभाष : 044-24917673, **तिरुअनंतपुरम** : गवर्मेंट प्रेस के निकट, दूरभाष : 041-2330650

प्रसंगवश

वैसे तो पुरस्कारों और विवादों का चोली-दामन का साथ रहा है लेकिन आमतौर पर शीर्षस्थ पुरस्कार विवाद मुक्त ही रहते आए हैं, किंतु साहित्य का नोबेल पुरस्कार पिछले कुछ सालों से लगातार विवादों से घिरा रहा है। नोबेल पुरस्कार संचालित करने वाली स्वीडिश अकादमी का मानना है कि उसकी मंशा पुरस्कृत लेखकों और रचना की प्रकृति में विविधता लाने की है लेकिन विविधता लाने की यह इच्छा हर बार विवादों को कैसे जन्म दे सकती है, यह समझना कठिन है। विवादों के कारण ही पिछले साल 2018 का पुरस्कार किसी साहित्यकार को न दिया जा सका। इन हालिया अनुभवों के मद्देनज़र इस बार अकादमी से पुरस्कारों के चयन में समुचित सावधानी की उम्मीद थी। अकादमी इस उम्मीद पर खरा उतरी भी किंतु आंशिक तौर पर ही। पिछले दिनों अकादमी ने एक साथ वर्ष 2018 का पुरस्कार पोलैंड की लेखिका ओल्गा तोकर्जुक और 2019 का पुरस्कार ऑस्ट्रियाई लेखक पीटर हैंडके को देने की घोषणा की।

ओल्गा तोकर्जुक को पुरस्कृत करने के अकादमी के फ़ैसले की जहाँ भूरी-भूरी प्रशंसा हुई वहीं पीटर हैंडके को पुरस्कार देने की घोषणा उनकी सर्बियाई नरसंहार के खुले तौर पर समर्थन के कारण विवादों में घिर गई। युगोस्लाविया के पतन के बाद पिछली शताब्दी के आख़िरी वर्षों में सर्बिया और बोस्निया में लंबे चल गृह युद्ध के दौरान सर्बियाई मूल के लोगों की नृशंस हत्या और नरसंहार की घटनाओं से विश्व समुदाय अर्चाभित और व्यथित था। ऐसी स्थिति में, माना जाता है कि हैंडके ने न केवल अपने उपन्यासों में बल्कि सार्वजनिक बयानों के द्वारा नरसंहार की इन घटनाओं को नकारा और उसका पक्ष लिया। पुरस्कार घोषित होने पर दुनियाभर के विचारकों और लेखकों ने जहाँ उनके साहित्यिक सामर्थ्य की प्रशंसा की वहीं मानवता और नैतिकता विरोधी होने के कारण उनकी आलोचना भी की।

ओल्गा तोकर्जुक को यह पुरस्कार उनकी उच्च कथात्मक कल्पनाशीलता के लिए प्रदान किया गया है। उनके लेखन में एक वैश्विक दृष्टि है और वे मिथकों तथा पौराणिक आख्यानों को वर्तमान संदर्भों से पिरोकर उनमें नए अर्थ और व्यंजना भरने में समर्थ हैं। तोकर्जुक स्त्रीवादी और राजनीति दृष्टि-संपन्न लेखिका हैं। उन्हें जिस उपन्यास 'फ़्लाइट्स' के लिए नोबेल पुरस्कार दिया गया उसका प्रकाशन पोलिश भाषा में 2007 में हुआ था किंतु अंग्रेज़ी में यह लगभग 10 साल बाद प्रकाशित हुआ। अंग्रेज़ी के प्रकाशन के तुरंत बाद इस पुस्तक के लिए उन्हें मैन बुकर पुरस्कार से सम्मानित किया गया। तोकर्जुक का मानना है कि साहित्य को उकसाने वाला होना चाहिए, इसे शंका पैदा करना चाहिए और इसे उन मुद्दों पर बात करनी चाहिए जो प्रकटतौर पर दिखाई नहीं देतीं। वे कहती हैं कि मैं लोगों के दिमाग़ खोलने के लिए, उन्हें नई दृष्टि देने के लिए लिखती हूँ। मैं चाहती हूँ कि लोग यह महसूस करें कि जिसे वे स्वाभाविक मानते हैं वह वास्तव में स्वाभाविक नहीं है। आप एक छोटी-सी स्थिति को दूसरे कोण से देखें और अचानक वहाँ नए स्तर और नई परतें दिखाई देने लगेंगी। साहित्य का यही काम है- पाठकों की चेतना का विस्तार करना, उन्हें अपने जीवन की व्याख्या तथा घटनाओं के कारकों की व्याख्या करने की क्षमता प्रदान करना।

ओल्गा तोकर्जुक ने मनोविज्ञान की पढ़ाई की और आजीविका के लिए वे मनोचिकित्सक के रूप में काम करती रहीं। लेखकीय जीवन की शुरुआत उन्होंने कविता से की। एक कविता संकलन प्रकाशित होने के बाद वे कथा लेखन की ओर मुड़ीं। 'ड्राइव योर प्लाउ ओवर द बोन्स ऑफ़ डेड' नामक उनका एक अन्य उपन्यास भी पोलिश भाषा में प्रकाशन के दस साल बाद अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक को हालाँकि तोकर्जुक राजनैतिक उपन्यास नहीं मानतीं लेकिन इसमें राजनैतिक नरसंहार का गहरा विरोध व्यंजित होता है। कथानक में एक सुदूरवर्ती आदिवासी समुदाय में मनुष्य और पशुओं की हत्या के बारे में खोजबीन करने वाली वृद्ध महिला का धनबल, शक्ति बल और मर्दवादी सोच से साक्षात् होता है। इस उपन्यास पर आधारित फिल्म 'पोकोट' को जब पिछले साल बर्लिन फिल्म समारोह में प्रदर्शित किया गया तो पौलेंड की समाचार एजेंसी ने उसे ग़ैर-ईसाई और पर्यावरण के नाम पर आतंकवाद फैलाने वाली कृति की संज्ञा दी। उनका एक अन्य उपन्यास 'द बुक ऑफ़ जेकब' 18वीं सदी के धर्मगुरू जेकब फ्रैंक के जीवन पर आधारित है जिसने अपने यहूदी अनुयायियों को इस्लाम और ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए मजबूर किया। उनके इस उपन्यास का भी विरोध हुआ लेकिन तोकर्जुक की कृतियाँ ऐतिहासिक तथ्यों और उनकी गहरी मानवतावादी और स्त्रीवादी दृष्टि पर आधारित हैं इसीलिए वे हर बार दुनियाभर में फैले अपने पाठकों और प्रशंसकों का समर्थन पाती रहीं।

ओल्गा तोकर्जुक हिन्दी के पाठकों के लिए एकदम अजनबी नहीं हैं। उनकी तीन लंबी कहानियों का एक संकलन 'कमरे तथा अन्य कहानियाँ' हिन्दी में प्रकाशित हैं। इसका मूल पोलिश से अनुवाद भारत को अपना घर बनाने वाली और यहाँ पिछले चार दशकों से रह रहीं मारिया पुरी ने किया है। ओल्गा का भारत से गहरा अनुराग है और उन्हें भारतीय लोग, व्यंजन और जीवन दृष्टि ख़ासे प्रिय हैं। वे 2014 के दिल्ली विश्व पुस्तक मेले में शिरकत कर चुकी हैं और विभिन्न नगरों का भ्रमण कर चुकी हैं।

दूसरी ओर पीटर हैंडके का लेखन और दृष्टि तोकर्जुक के ठीक विपरीत बैठता है। तोकर्जुक अपने लेखन और जीवन में जिन चीज़ों का विरोध करती हैं, हैंडके अपने लेखकीय कौशल और शिल्प के बावजूद वैचारिक दृष्टि से उनसे उलट हैं। उन्हें पुरस्कार दिए जाने के समर्थकों का मानना है कि साहित्य को राजनीति का मुखापेक्षी नहीं होना चाहिए। इसे राजनीति से अलग होना चाहिए लेकिन प्रश्न है कि क्या साहित्य का नोबेल पुरस्कार नैतिकता, मानवीयता अथवा तथ्यपरकता से अलग रहकर दिया जा सकता है? लेकिन ये दोनों ही पक्ष तब तक बेमानी हैं जब तक की इस पुरस्कार की संकल्पना और इसे संस्थापित करने वाले अल्फ्रेड नोबल की राय पर ग़ौर न किया जाए। अल्फ्रेड नोबल की वसीयत के अनुसार यह पुरस्कार 'आदर्श दिशा में उन्मुख उत्कृष्ट कृति' के लिए दिया जाना चाहिए।

वसीयत के इस वाक्यांश पर ग़ौर करें तो नैतिकता उसकी एक अनिवार्य शर्त बन जाती है। किसी भी देश-काल-स्थिति में नरसंहार का समर्थन किसी लेखकीय कृति, चाहे वह कितनी भी महान क्यों न हो अथवा लेखक, विचारक, दार्शनिक का अभीष्ट नहीं हो सकता न ही उसकी प्रशंसा की जा सकती है। शायद यही वजह है कि गुज़िश्ता सदी के सबसे महान कवियों में से एक एज़रा पाउंड को यह पुरस्कार नहीं दिया जा सका क्योंकि उन पर यहूदी विरोधी और फासीवादी समर्थक होने का आरोप था।



समृद्ध अंक

'आजकल' का सितंबर 2019 अंक पढ़ा। मैनेजर पांडेय और रामकुमार कृषक से साक्षात्कार इस अंक की उपलब्धि कहा जा सकता है। दोनों प्रवर लेखकों ने समकालीन साहित्य पर बेबाक टिप्पणियाँ की हैं। कविता और छंद तथा लय के रिश्ते पर पांडेयजी की टिप्पणी बहुत प्रासंगिक और महत्वपूर्ण है। कृषकजी द्वारा साहित्य के सामाजिक दायित्व की स्थापना लेखनकर्म को सही परिप्रेक्ष्य देती है। 'आधा गाँव' की विनोद शाही द्वारा की गई नई पड़ताल इस महत्वपूर्ण उपन्यास की ऐतिहासिक भूमिका का उद्घाटन करती है। रणजीत साहा अंतरानुशासनों के विद्वान हैं। इस अंक का लेख रंग ही रंग : रंग ही अंतरंग' उनकी इसी विशेषता का परिचायक है। कविताएँ ज़रूर थोड़ी हल्की हैं।

-राजेंद्र गौतम
नई दिल्ली

पठनीय और सराहनीय

'आजकल' सितंबर 2019 अंक में सुभाष शर्मा का लेख 'साहित्य के कोलंबस : राहुल सांकृत्यायन' सबसे अच्छा लगा। नूर ज़हीर और अनुज की कहानी क्रमशः 'तन्हाई भोजी', 'साहब अलवरी' भी अच्छी लगी।

भारत यायावर, देवेश पथ सारिया और अनिता की कविताएँ भी पसंद आईं। मंगलेश डबराल का यात्रा वृत्तांत 'एक छिपी हुई जगह' और हरीशकुमार शर्मा का 'अरुणाचल की हिन्दी' पठनीय और सराहनीय है।

-विनोद कुमार तिवारी
फारबिसगंज

प्रगतिशील दृष्टिकोण

'आजकल' का सितंबर 2019 अंक प्राप्त हुआ। वरिष्ठ आचोलक मैनेजर पांडेय पर देवेंद्र चौबे का आलोचनात्मक लेख पढ़ा। इससे पांडेयजी की आलोचना दृष्टि और उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण उभर कर सामने आया है। उन्होंने हिन्दी आलोचना को सशक्त बनाने एवं एक नई दिशा देने का काम किया है। रामविलास शर्मा के प्रगतिशील दृष्टिकोण को आगे बढ़ाया और सशक्त किया है। अभी इनके आलोचना-साहित्य का मूल्यांकन होना बाक़ी है। देवेंद्र चौबे ने पांडेयजी की आलोचना लिख कर बहस का एक सिलसिला शुरू कर दिया है। इसी तरह 'शिक्षा, साहित्य और समाज के समकालीन परिदृश्य' में गोष्ठी के बहाने रचना, आलोचना, शिक्षा, उनके प्राध्यापकीय जीवन-यात्रा, वर्तमान में आलोचना की स्थिति, कविता जैसे विषयों पर उनसे सूर्यनाथ सिंह, मनोज कुमार सिंह, मिथिलेश श्रीवास्तव और नीरज कुमार मिश्र ने ज़रूरी प्रश्न पूछे हैं। पांडेयजी के जवाबों की यह प्रस्तुति उनके व्यक्तित्व एवं व्यापक समझ की बानगी है। हिन्दी आलोचना की वर्तमान दशा और दृष्टि पर इस साक्षात्कार से काफ़ी जानकारी मिलती है। गीत एवं ग़ज़लकार रामकुमार कृषक से रेवतीरमण शर्मा की बातचीत से उनकी रचनात्मक यात्रा, संघर्ष, समकालीन रचनाशीलता पर प्रकाश पड़ता है।

भारत यायावर की कविताएँ 'रचना है निरंतर' और 'मैं वहीं हूँ' संवेदनशील एवं महत्वपूर्ण कविताएँ हैं। 'रचना है निरंतर' काव्य एवं जीवन के सृजन की प्रेरणा है। एक रचनाकार अपनी रचना करते हुए सिर्फ़ शब्दों, बिंबों, भावों, संवेदनाओं एवं विचारों को ही नहीं रचता बल्कि अपना भी जीवन रचता है। कवि रचना के क्रम में सुंदरता, नवीनता, बेसहारों को आत्मबल प्रदान करने, मनुष्य-मनुष्य के बीच बढ़ते नफ़रत को मिटा कर प्रेम की सुगंध रचने की बात करता है। रचना अगर व्यक्ति को रचती है तो उसको संवारने का भी काम करती है। अपने अंदर और बाहर की अनुगूंजों को सुनना और समग्र सृष्टि से रागात्मक संबंधों को अटूट बनाए रखना रचना-प्रक्रिया का ही अंग है। अंक के अन्य सभी लेख व रचनाएँ जीवन के वैविध्य प्रश्नों को उठाती हैं।

-गणेश चंद्र राही
हजारीबाग (झारखंड)

प्रेरणाप्रद और ज्ञानवर्द्धक

सितंबर 2019 अंक के 'प्रसंगवश' में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित अश्वेत लेखिका टोनी मॉरीशन के जीवन और कृतित्व पर अच्छी जानकारी दी गई है जो प्रेरणाप्रद है। उनका महत्वपूर्ण लेखन हिन्दी पाठकों से अभी दूर ज़रूर है लेकिन वह कालजयी है। उनके समग्र साहित्य को हिन्दी में लाने की कोशिश होनी चाहिए। देवेन्द्र चौबे ने आलोचक मैनेजर पांडेय पर एक अच्छा लेख प्रस्तुत किया है। पाँच दशकों तक हिन्दी आलोचक और विचारधारा की दुनिया में अपनी धाक जमाए रखना पांडेयजी की अप्रतिम विद्वता का प्रतीक है। मैंने उन्हें सुना है, देखा भी है! वह अपने समकालीन आलोचकों से इस मामले में भिन्न हैं कि वे बहुत सरल, विनम्र व्यक्ति हैं। ज्ञान का आडंबर उन्हें छू नहीं गया है। पाश्चात्य साहित्य और आधुनिक साहित्य को लेकर उनका जितना भी आलोचनात्मक लेखन है वह बहुत विशद है और इस मामले में वह अन्य से विशिष्ट हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी राष्ट्रीय स्मारक समिति, रायबरेली ने जब गत वर्ष नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया के सौजन्य से 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' को 83 साल बाद पुनर्मुद्रित कराया तो उसकी भूमिका पांडेयजी ने लिखी जो बहुत उत्कृष्ट और सारगर्भित है। अभिनंदन ग्रंथ के बारे में नई जानकारियाँ इस भूमिका में मिलती हैं। गोष्ठी के अतर्गत विद्वानों से हुई बातचीत में पांडेयजी ने विभिन्न विषयों पर अपने विचार और जो तर्क दिए हैं वे हिन्दी लेखकों और शोधार्थियों के लिए उपयोगी हैं। विनोद शाही ने कृति 'आधा गाँव' की चर्चा करते हुए ग़ाज़ीपुर ज़िले के प्राचीन इतिहास और वर्तमान सामाजिक स्थितियों पर व्यापक नज़र डाला है। साक्षात्कार में रामकुमार कृषक का जीवन और कृतित्व पूरी तरह से व्याख्यायित हुआ है। यह प्रेरणाप्रद व ज्ञानवर्द्धक है। भारत यायावर और अनिता की कविताएँ अच्छी लगीं। नूर ज़हीर की 'तनहाई भोजी' शीर्षक कहानी रिश्तों को लेकर एक उलझी कहानी है जो हृदय को गहरे छूती है। अन्य कहानियाँ, कविताएँ, लेख आदि पठनीय हैं। पत्रिका का मुख्यपृष्ठ आकर्षित करता है।

-आनंद स्वरूप श्रीवास्तव
जवाहर विहार, रायबरेली (उ.प्र.)

● संस्मरण

जैसे अमरूद की खुशबू

मंगलेश डबराल



जन्म : 16 मई, 1948 (टिहरी गढ़वाल, उत्तराखंड)। अनेक कविता-संग्रह प्रकाशित। विभिन्न भारतीय और विदेशी भाषाओं में कविताएँ अनूदित। कविता के अतिरिक्त साहित्य, सिनेमा, संचार माध्यम और संस्कृति पर नियमित लेखन। साहित्य अकादमी पुरस्कार सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित।

ज्ञानरंजन। ज्ञान जी। ज्ञानभाई। एक पुराना ज़र्द पड़ता पोस्टकार्ड किसी बेशकीमती धरोहर या तमग़े की तरह अब भी मेरे पास है, जिसे ज्ञानरंजन ने सन् 1971 में मेरे घर काफलपानी के पते पर भेजा और फिर मेरे पिता ने मुझे दिल्ली रीडायरेक्ट किया था क्योंकि मैं तब तक नौकरी की तलाश में दिल्ली आ गया था। फ़ाउंटेन पेन से लिखी हुई काली स्याही की वह कुछ वज़नदार इबारत कहती थी : "प्रिय भाई, मेरा आपसे कोई परिचय नहीं है, लेकिन 'सारिका' के नए अंक में आपकी कहानी 'आया हुआ आदमी' पढ़कर यह लिख रहा हूँ। मैंने हाल के वर्षों में ऐसी और कोई कहानी नहीं पढ़ी। उसकी ऊपरी, भाषाई सतह पर एक क्रूरता दिखाई देती है, लेकिन उसके नीचे करुणा की धारा बहती है। आपको बधाई। आपका-ज्ञानरंजन।"

पोस्टकार्ड मिला तो यह यक़ीन करने में देर लगी कि यह ज्ञानरंजन का पत्र है, जिनकी भाषा का नशा हम लोगों पर छाया हुआ रहता है और जिनकी शैली की नक़ल हर कोई करना चाहता है। वह पोस्टकार्ड एक खिड़की थी जहाँ से मैं ज्ञानरंजन से हाथ मिला सकता था या विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' की तर्ज़ पर कूद कर उस संसार में प्रवेश कर सकता था जहाँ ज्ञान रहते थे। उनकी धूमकेतु जैसी हैसियत थी और 'धर्मयुग', 'सारिका', 'अणिमा' आदि पत्रिकाओं में कहानियों के साथ छपे उनके चित्र सम्मोहित करते थे जिनमें अनिवार्य तौर पर छोटी, चेहरे से चिपकी हुई दाढ़ी होती थी। हर छपी हुई तस्वीर में ज्ञानरंजन कटी-छटी चेहरे से लगभग चिपकी हुई दाढ़ी के साथ होते थे और उसके बिना उनके चेहरे की कल्पना करना मुश्किल था। बाद में भी उनकी दाढ़ी उसी तरह बनी रही जिसका आकार न कभी बड़ा हुआ न कभी छोटा।

नई कहानी के बाद सन् साठ के बाद की कहानी को एक नई पीढ़ी का प्रस्थान-बिंदु और प्रस्थापना-परिवर्तन माना जाता था जिसके अगुआ ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, रवींद्र कालिया और काशीनाथ सिंह थे। यह मूर्तिभंजक पीढ़ी तेज़ी से अपनी जड़ें फेंक रही थी और उसके विषय में कई तरह के क़िस्से और मिथक साहित्यिक हवा में तैरते हुए आते थे। मसलन यह कि ज्ञानरंजन इलाहाबाद के लेखकों के मशहूर अड्डे काफ़ी हाउस में लेखक मंडलियों से दूर रहते हैं, कुछ आवारागर्दों और अर्ध-बेरोज़गारों से उनकी गहरी छनती है और वे साहित्य-चर्चा में लीन रहने की बजाय उन्हें ताश खेलना ज़्यादा पसंद है। (इसी तरह, दूधनाथ सिंह के बारे में यह प्रचलित था कि वे हमेशा साहित्य के दिग्गजों को परेशान करने की चाल सोचते रहते हैं और रमेश बक्षी नहाते समय भी टाई पहने रहते हैं)।

सन् 1977 में जब मैं दैनिक 'अमृत प्रभात' में काम करने इलाहाबाद गया तो ज्ञान भाई अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ लिखने (जो अपने समय की भी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ बनीं) और ख़ासी हलचल मचाने के बाद जबलपुर जा चुके थे लेकिन वे लगभग हर एक या दो महीने में इलाहाबाद आते रहते। इलाहाबाद उनके भीतर इस तरह बसा हुआ था जैसे अमरूद के भीतर उसकी खुशबू बसी होती है जिसे फल से अलग करना असंभव है (इलाहाबाद के बड़े-बड़े अमरूदों में यह कुछ ज़्यादा ही होती है)। वे अमरूदों की तरह अपने शहर को भी जैसे चुराकर साथ ले गए थे। जब वे इलाहाबाद में नहीं होते थे, इलाहाबाद उनकी कल्पना में मंडराता रहता था। दरअसल, 'अमरूद का पेड़' से लेकर आख़िरी रचना 'अनुभव' तक यह शहर उनकी हर कहानी में है, भले ही उसका नाम कहीं न लिया गया हो और वह जबलपुर आश्चर्यजनक रूप से लगभग अनुपस्थित है जहाँ उनके जीवन का ज़्यादातर हिस्सा बीता। यह कुछ इस तरह है जैसे इतालवी लेखक इतालो काल्वीनो की कृति 'न दिखने वाले शहर' में जब मार्को पोलो लंबी यात्राओं से लौट कर कुब्ला खान के दरबार में आता है तो अपने सफ़र के विभिन्न शहरों–स्मृतियों का शहर, नींद का शहर, भूमिगत शहर, अनिर्मित शहर, बिना नक्शे का शहर आदि–के वर्णन सुनाता है। अंत में कुब्ला खान उससे कहता है कि तुमने वेनिस के बारे में कुछ नहीं बताया। मार्को पोलो जवाब देता है, "हुज़ूर, ये सभी शहर वेनिस के भीतर ही हैं!" ज्ञानरंजन की कहानियों में इलाहाबाद वेनिस की तरह है। उनसे कोई पूछता तो वे गाब्रिएल गासिर्या मार्खेस की तरह कह सकते थे कि मैं अमरूद की खुशबू में ही अपने शहर को अभिव्यक्त कर सकता हूँ!

बहरहाल, ज्ञान भाई जब भी इलाहाबाद आते, उनकी शामें और कभी-कभी दोपहरें भी हमारे साथ बीततीं। हमारे यानी वीरेन डंगवाल, मैं, कभी नीलाभ और अभिनेता-गायक विश्वमोहन बडोला की संगत में, जो तब 'नार्दर्न इंडिया पत्रिका' में समाचार संपादक थे और मुझे सहयोगी हिन्दी अख़बार 'अमृत प्रभात' में ले गए थे। वीरेन विश्वविद्यालय का एक सुस्त शोध-छात्र था और हम एक ही घर में संयुक्त रूप से रहते थे। इलाहाबाद में हम साहित्यिक पुरोधाओं से दूर बेगाने से फिरते थे और सिविल लाइंस में नीलाभ के प्रकाशन में बैठते या कभी-कभी बड़े चर्च की मुंडेरों पर मद्यपान भी करते। उन दिनों कवि-आलोचक, परिमल के सक्रिय सदस्य और अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर विजयदेव नारायण सिंह की बहुत धाक थी। एक दिन उन्होंने मुझे इशारे से बुलाया और कहा, "भई,

***संपर्क** : ई-204, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, ग़ाज़ियाबाद-201012*
मो. 09910402459

आप कतराते क्यों रहते हैं? मैंने अभी एक पत्रिका में आपकी कविताएँ पढ़ी हैं- "ट्रेन में सात कविताएँ।" फिर उन्होंने मेरी तुलना शमशेर के युवा दिनों से की तो मैं झेंप गया और सर नीचे किए मुस्कुराता रहा। इलाहाबाद की मशहूर परिमल मंडली बिखर चुकी थी और प्रगतिशील लेखकों और उनके बीच के द्वंद्व भी सिर्फ़ खुमारी की तरह बच रहे थे... वीरेन और मैं बुज़ुर्ग हो चुके परिमलियों और प्रगतिशीलों के सामने असहज और बच्चे ही बने रहे लेकिन जब ज्ञानरंजन आते तो इलाहाबाद हमारे लिए अत्यंत सुगम, सरपट और जीवंत हो उठता। अक्सर शामों को हम लोग कॉफ़ी हाउस के इर्द-गिर्द या नीलाभ प्रकाशन में या उसके सामने सड़क की पटरी पर बैठे रहते जहाँ कोई नीम के पेड़ों से गिरी हुई पत्तियों की ढेरियों को सुलगा देता और उनसे उठता हुआ मंद, कसैला और मादक धुआँ नथुनों में भरता रहता। तब इलाहाबाद का सिविल लाइंस आज की तरह भद्दा, इमारतों से दबा हुआ और घुटन-भरा नहीं बल्कि उन्मुक्त था। कहते हैं, अंग्रेज़ों ने इस शहर को बसाने, उसकी सड़कों को समांतर बनाने में करीब चार सौ गाँवों को उजाड़ दिया था ताकि वे एक सुंदर सुनियोजित शहर का मज़ा ले सकें। पास में ही वह बड़ा-सा पथरीला चर्च था जो अक्सर सुनसान रहता था और अपनी चट्टानी ख़ामोशी और भव्यता के साथ एक रहस्य का आभास देता था।

'पहल' सिर्फ़ एक पत्रिका के रूप में नहीं बल्कि एक 'पुस्तक' के रूप में शुरू हुई। उसका नीति-वाक्य था : 'इस महादेश के वैज्ञानिक विकास के लिए प्रस्तुत प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक'। अर्थात् वह एक अलग क़िस्म की पत्रिका थी। उसमें छपने का अर्थ था गंभीर, प्रगतिशील और जन-सरोकारों के प्रति सजग लेखन के संसार का प्रवेश पत्र हासिल करना। एक लंबे समय तक 'पहल' में प्रकाशित होने वाली कविताएँ उनके रचनाकारों को गर्वोन्नत किए रहीं.. एक उदाहरण सन् 1978 में 'इस नवान्न में' शीर्षक से प्रकाशित 'पहल' का वह अंक है जिसमें हिन्दी, मराठी, पंजाबी और बांग्ला के बहुत-से कवियों की उत्कृष्ट रचनाएँ पहली बार प्रकाशित हुईं और जो इतने वर्ष बाद भी समकालीन कविता का बेहतरीन चयन माना जाता है। वीरेन डंगवाल की 'रामसिंह', असद ज़ैदी की 'बहनें', अरुण कमल की 'उर्वर प्रदेश', वेणुगोपाल की 'हवाएँ चुप नहीं रहतीं', आलोकधन्वा की 'कपड़े के जूते' आदि सामने आईं और जल्दी ही बहुत चर्चा का विषय बन गईं। नक्सलवाद से प्रभावित पंजाबी और बांग्ला कवि नवारुण भट्टाचार्य, कमलेश सेन, सुरजीत पातर, अमरजीत चंदन, लाल सिंह दिल और मराठी के दलित और प्रगतिशील कवि नारायण सुर्वे, नामदेव ढसाल आदि की कविताओं के अनुवाद भी पहली बार आए। यह सुरुचिपूर्ण अंक बहुत लगाव से और एक किताब जैसी सज्जा के साथ प्रकाशित किया गया था और बाद में वह एक स्वतंत्र पुस्तक भी बना। अंक की प्रक्रिया यह थी कि ज्ञानरंजन जबलपुर से रचनाओं की खेप भेजते और नीलाभ, वीरेन और मैं उसकी साज-सज्जा, लेआउट, प्रूफ़ आदि का काम देखते। ज्ञान भाई का संपादन अचूक और बारीक था : ज़रा-सा देर होने पर वे हम लोगों को डाँट भी पिलाते और हम बुरा माने बग़ैर उनकी बात को शिरोधार्य करते। उनका करिश्मा ही ऐसा था। डांट और करिश्मे की यह रवायत आज भी जारी है।

ज्ञानरंजन क्लासिकी ढंग के संपादक हैं। उन्हें देखकर पुराने संपादकों–महावीर प्रसाद द्विवेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी और खुद ज्ञानरंजन के पिता और उर्दू की महान शायरी को हिन्दी में उपलब्ध कराने वाले विद्वान रामनाथ सुमन की शैली की कल्पना की जा सकती है। पुराने और मानवतापूर्ण उद्देश्यों से जुड़े संपादकों की तरह ज्ञानरंजन भी 'पहल' की रचनाएँ मँगाने, चयन, रचनाओं पर टिप्पणियाँ लिखने और संपादन करने से लेकर उसके अंकों के पैकेट तैयार करने, उन्हें सुतली से बाँधने और पते लिखने का काम अपने हाथ से करते रहे और जहाँ तक संभव हो, आज इस उम्र में भी करते हैं। इस तरह इस काम से एक पुराने क़िस्म की पवित्रता, एक महती उद्देश्य के प्रति समर्पण की भावना भी जुड़ी होती है। 'पहल' रचनाओं के साथ संपादकीय टिप्पणियों के लिए भी मशहूर रही है और कई दूसरी पत्रिकाओं ने उन तेज़, कसी हुई और कई बार 'मूल्य-निर्णय' करती टिप्पणियों की नक़ल करने की कोशिश की।

ज्ञान भाई ने कुल 25 कहानियों के बाद लिखना क्यों बंद कर दिया? शायद ही कोई साहित्यकर्मी होगा जिसके दिमाग़ में यह सवाल न उठा हो। बहुत-से लोग अब भी उम्मीद करते हैं कि वे फिर से लिखना शुरू कर देंगे लेकिन क्या उनके न लिखने की वजह यह थी कि वे 'पहल' के संपादन में इस क़दर लिप्त हो गए थे कि कहानी उनकी प्रमुखता नहीं रही? क्या वे इतनी जल्दी चुक गए थे या उन्हें यह यक़ीन हो गया था कि वे 25 प्रतिमान निर्मित कर चुके हैं जिनके बूते हमेशा प्रासंगिक बने रहेंगे? कुछ अतिरंजना के बावजूद, यह सही है कि 'अमरूद का पेड़', 'फेंस के इधर और उधर', 'पिता', 'संबंध', 'शेष होते हुए', 'घंटा', 'बहिर्गमन' और 'अनुभव' से आगे की कहानी हिन्दी में लिखी नहीं गई है और इसीलिए ज्ञान का कथा-संसार अब भी जगमगाता हुआ दिखाई देता है, लेकिन यह भी सच है कि वे खुद अपनी कहानियों की भाषा और संरचना को तोड़ने, उसके पार जाने में असमर्थ रहे हैं। पूछने पर ज्ञान कोई ठोस कारण नहीं बताते। एक बार उन्होंने कहा, "मैं काग़ज़ के छोटे-छोटे पुर्ज़ों पर कुछ वाक्य लिखता जाता हूँ, उन्हें जमा करता जाता हूँ और कभी समय मिलने पर उनसे कहानी लिख देता हूँ और मुझे विश्वास नहीं होता कि मैंने कहानी लिख दी है। मेरे पास ऐसे बहुत से पुर्ज़े जमा हैं और एक आधा-अधूरा उपन्यास भी है। संभव है कभी कुछ बन जाए।"

ज्ञानरंजन की भाषा का जादू उनकी संपादकीय टिप्पणियों और उन संस्मरणों, आलेखों और बातचीतों में भी झांकता है जिनका एक बड़ा हिस्सा 'कबाड़खाना' में संकलित है। उन्हीं में इलाहाबाद का ख़ाका 'तारामंडल के नीचे एक आवारागर्द' भी है जो शायद किसी शहर पर लिखे हुए सबसे अधिक मर्मभेदी और रोमांचक व्यक्ति-चित्रों में गिना जाएगा : "हमने असंख्य बार शहर की परिक्रमा की। चप्पे-चप्पे को पद्दलित किया। और हम कभी ऊबे नहीं, कभी हमारा मन भरा नहीं। जिस तरह रोटी-दाल खाते-खाते हम कभी ऊबते नहीं। कई बार दिन और रात हमारी परिक्रमाओं के इतने सुनसान होते थे कि हमें अपने पदचाप सुनने के अलावा कोई ध्वनि तंग नहीं करती थी। इस तरह हमने अपनी युवावस्था में अपने शहर को, सब कुछ छोड़छाड़ कर केवल प्यार किया। ऐसी दुकानें थीं, ऐसी ढाबे, ऐसे गुमटियाँ थीं, ऐसे रेस्तराँ जिनमें हमें उपभोक्ता नहीं, स्वामी समझा जाता था। ऐसे-ऐसे घर थे जहाँ हम मेहमान नहीं घर के सदस्य थे। चूँकि हम हर समय शहर में उपस्थित रहते थे इसलिए हमसे अधिक विश्वसनीय कोई नहीं था। ऐसा भ्रम हो सकता था कि हमारी जेबों में मज़े के पैसे हैं पर वास्तविकता यह थी कि हमारी जेबों की सिलाई ही उखड़ी हुई थी।"

कहानियों के ज्ञानरंजन विन्यास में तोड़फोड़ करती हुई, कसी हुई और छलाँग लेती हुई और बड़ी विडंबनाओं का वस्तुपरक, काव्यात्मक संक्षिप्ति के साथ बखान करती भाषा के करिश्माई हैं। यहाँ विभिन्न कहानियों से लिए हुए कुछ अंश ग़ौरतलब हो सकते हैं : "यह एक दुखद और हैरतभरा अनुभव था कि स्थानों से निकलते हुए लगा कि उन्हें चीरना पड़ रहा है।", "मुझे शक हो रहा था कि ज़रूर शहर पर

कोई साया पड़ गया है और पट-परिवर्तन हो गया है।" "मैं अपनी अशांति को किसी दार्शनिक भाले से नहीं भेदना चाहता था।" "यह सड़क बहुत प्रकृतिपूर्ण थी, कोई फ़ौजी इधर से नहीं गुज़रता था।" "मैंने महफ़िल में दो दर्जन से अधिक शेर सुना दिए। शेर न मालूम कहाँ से चींटों की तरह एक के बाद एक निकले चले आ रहे थे।" "साहित्य उसे बवासीर की तरह परेशान करता था", "छत्ते की तरह नशा शरीर में छना हुआ था और शरीर वृक्ष की तरह बिना गिरे झूम रहा था।" "दिमाग़ में कोई अज्ञात और गुपचुप तरीका चल रहा था।" "उन्होंने मनोहर को उस ऊँचाई तक पँहुचा दिया जहाँ ज़िंदगी बेयरा की तरह उसके कटोरे में शोरबा परोस रही थी।" "वह चली गई। उसने सुधा को पहले पोर्च में, फिर लॉन से बाहर और अंत में सड़क की पटरी पर देखा।" निश्चय ही यह आमफ़हम कथा-भाषा नहीं है और उसकी अंत: प्रेरणाएँ और संक्षिप्तता कविता से आई हैं। अगर यह कहा जाए कि ज्ञानरंजन कहानी में कविता लिखते हैं तो अतिरंजना नहीं होगी। क्या यह भाषा ज्ञानरंजन को किसी विरासत में मिली या उन्होंने इसे अर्जित किया है? शायद नहीं। यह उनकी ईजाद की हुई भाषा है। जैसे कोई कीमियागर नीम-अँधेरी प्रयोगशाला में बैठ कर विभिन्न रसायनों को आज़माता है और पाता है कि अचानक एक नया रसायन प्रकट हो गया है। ज्ञानरंजन का गद्य इसी तरह का 'यूरेका!' गद्य है जो अपनी दीप्ति से चमत्कृत करता है और बहुत कम शब्दों में एक पूरा संसार समेट लेता है। क्या इसका कारण यह है कि ज्ञान कविता के एक सघन पाठक हैं? आज के ज्यादातर कहानीकारों को कविता से विरक्ति और कई बार अरुचि भी है। राजेन्द्र यादव का कविता-विरोध तो बहुचर्चित रहा है लेकिन ज्ञानरंजन के लिए वह एक ज़रूरी खुराक है। फेदेरीको गार्सिया लोर्का, नाज़िम हिकमत, पाब्लो नेरूदा, निकानोर पार्रा, मीरोस्लाव होलुब आदि उनके प्रिय कवि रहे हैं और खुद उनके शब्दों में, "कहानी लिखने का मूड बनाने के लिए मैं अक्सर ज़ोर-ज़ोर से कविता पढ़ना शुरू कर देता हूँ।" बहुत-से लोगों ने उन्हें ठाकुर प्रसाद सिंह का एक मार्मिक गीत भी गाते सुना होगा जो लोक-संवेदना से प्रेरित है : 'पर्वत के पार से बजाते तुम बाँसुरी/ पाँच जोड़ बाँसुरी/ वंशी-स्वर उमड़-घुमड़ रो रहा/ मन उठ चलने को हो रहा/ धीरज की गाँठ खुली लो लेकिन/ आधे अँचरा पर पिय सो रहा।'

ज्ञानरंजन की कला के सिलसिले में एक तुलना शायद मौजूँ होगी : उनकी ट्रेड मार्क बन चुकी कहानी 'घंटा' एक क़स्बे में एक संपन्न क़िस्म के छद्म बौद्धिक डॉन कुंदन सरकार और उसके द्वारा बनाए जाने वाले 'चेला-समुदाय' की कहानी है। आवारा लोगों के अड्डे पेट्रोला का निवासी कथा-नायक कुछ दिन उसकी ऐय्याशी के फेर में फँस कर आख़िरकार विद्रोह कर बैठता है और अपमानित होकर वापस पेट्रोला में लौट आता है। दूधनाथ सिंह का लघु-उपन्यास 'नमो अंधकारम' भी लगभग इसी कथा-भूमि पर बुना गया है लेकिन ज्ञान 10-12 पन्नों की कहानी में जिस विद्रूप यथार्थ और छूँछे प्रतिरोध की प्रतिष्ठा करते हैं और उसे जो समकालीन सामाजिक आयाम देते हैं, वह दूधनाथ सिंह की रचना करीब 90 पन्नों में भी नहीं कर पाती। ज्ञान की कहानी वर्णित यथार्थ के परे चली जाती है, लेकिन दूधनाथ का उपन्यास उसी यथार्थ में घिसटता रहता है, उपन्यास के नामों को सर्वनाम में तब्दील नहीं कर पाता। दोनों लेखकों की रचनाएँ समाज के वास्तविक चरित्रों से प्रेरित रही होंगी, लेकिन ज्ञान के यहाँ उन्हें कहानी से बाहर वास्तविक संसार में व्यक्ति रूप में पहचानना कठिन है जबकि दूधनाथ अपने चरित्रों को अतिक्रमित नहीं कर पाते।

'अतिक्रमण' शायद ज्ञानरंजन की रचना-प्रक्रिया को बतलाने के लिए सही शब्द है। वे यथार्थ के अतिक्रमणों के रचनाकार हैं। इसीलिए भोगे हुए यथार्थ को 'भोगा हुआ' नहीं रहने देते, बल्कि उसका कायांतरण कर देते हैं, उसे अपने समय के एक विचार, एक चिंतन और सत्य में बदल देते हैं। कहाँ जाता है कि महान रूसी लेखक लेव तोल्स्तोय की कोई कृति ऐसी नहीं है जो वास्तविक चरित्रों पर आधारित न हो, लेकिन वे सब इस क़दर रूपांतरित हो गए हैं कि उन्हें भाषा से बाहर पहचाना नहीं जा सकता.. यहाँ तोल्स्तोय से तुलना करना मक़सद नहीं है, सिर्फ़ उस कीमियागरी की ओर संकेत करना है जहाँ बड़े लेखक एक समान धरातल पर मिलते हैं। उनकी कहानियों की पहली किताब 'सपना नहीं' के शुरू में अल्लामा इक़बाल का एक शेर उद्धृत किया गया था जो रचना के लिए अतिक्रमण की बुनियादी शर्त की ओर संकेत करता था :

'तू बचा-बचा के न रख इसे, तिरा आइना है वो आइना
कि शिकस्ता हो तो अज़ीज़तर है निगाहे-आइनासाज़ में।'

एक और कहानी 'बहिर्गमन' के बारे में एक धुँधला-सा अनुमान है कि वह वास्तविक जीवन के दो चरित्रों से अनुप्रेरित है, लेकिन कहानी उन चरित्रों को लाँघ जाती है और अपने समय की प्रतिनिधि, उसे परिभाषित करती हुई दो प्रवृत्तियाँ बन जाती है। 'अनुभव' कहानी में हम एक शांत, मासूम और बेफ़िक्र शहर का कायांतरण देखते हैं जहाँ आधुनिकता के साथ अपराध, हत्या और रसातल का प्रवेश हो चुका है और पुराने दोस्त हत्यारे तक बन चुके हैं, कथा नायक हैरानी और हताशा के साथ घूमता है और अंत में कुम्हारों के एक ग़रीब टोले से गुज़रता हुआ खुद को तमाचे मारने लगता है। समाज के अमानुषिक होने की यह भीषण कथा ज्ञानरंजन की रचना-प्रक्रिया का वह बिंदु भी पेश करती है जहाँ से एक अगली उड़ान, एक 'टेकऑफ़' को संभव होना था : "मैं बीच सड़क पर बैठ गया। यह सब देखकर मुझ पर भीषण असर हुआ था। आज मेरा सीना यह सब देखकर भरभरा उठा। मैं रोज़ देखता था पर आज जैसे मेरा काबू नष्ट हो गया। मैंने पाया कि मैं सिसकने लगा हूँ और मेरी तबियत फूट-फूट कर रोने की हो रही है। मैं अपना नाम लेकर अपने को पुकार रहा था। "थू है तुम्हारी ज़िंदगी को, तुम पत्थर हो गए हो। ये देखो, ये असली शहर है, असली हिंदुस्तान, इनके लिए तुम्हारा दिल हमेशा क्यों नहीं रोता है।" फिर मैंने खड़े होकर अपने गालों पर तमाचे मारने शुरू कर दिए। जब मैं तमाचे जड़ रहा था तभी सोए हुए व्यक्तियों में से एक पलकें मलता हुआ उठा और पूछने लगा, "क्या बात है बाबूजी।" वह मोहन कुम्हार था। मैंने उससे कहा, "कुछ नहीं, कुछ नहीं। सो जाओ मोहन, मेरे पेट में बड़े ज़ोर से शूल उठा था, इसलिए बैठ गया था। अब ठीक है।"

इस कहानी के बाद ज्ञानरंजन कोई नई कहानी नहीं लिख सके। क्या इसलिए कि कथा नायक जिस विद्रूप और अमानुषिकता का सामना करता है, वह एक विचलित करने वाला ऐसा परिदृश्य है, ऐसी हताशा, जिसे अतिक्रमित करके ही आगे की, किसी दूसरे यथार्थ की, कुम्हार टोले में बसने वाले 'असली हिंदुस्तान' की कथा लिखी जा सकती थी लेकिन ज्ञानरंजन शायद यह सोच कर दूसरे रास्ते की तरफ़ मुड़ गए कि इस तरह उस भयावहता का सामूहिक स्तर पर प्रतिकार किया जा सकेगा। और वह रास्ता था- 'पहल' के संपादन और प्रकाशन का। 'एक महादेश की वैज्ञानिक सोच और प्रगतिशील रचनाओं की अनिवार्य पुस्तक' को प्रस्तुत करने का प्रयास, जो शायद जल्दी ही अपने 125 अंकों के पार कर लेगा। आमीन! ❑

असमंजस नहीं, निर्णय करते हुए जीने वाला आदमी

(**ज्ञानरंजन** *से* **राजेन्द्र दानी** *की बातचीत*)

***ज्ञानरंजन** : बातचीत के शुरू में मैं एक संक्षिप्त वक्तव्य देना चाहता हूँ। आप फिर बातचीत शुरू करें।*

***राजेन्द्र दानी** : कहिए, आप क्या कहना चाहते हैं?*

***ज्ञानरंजन** : इस जीवन में मेरा पहला पता रायफल रेंज, अकोला, दूसरा पता हट्डी अजमेर; तीसरा पता हरिजन सेवक संघ, किंग्सवे कैंप दिल्ली और चौथा पता 69 लूकरगंज, इलाहाबाद था। इन सभी पतों पर पिता की छाया है। मैं मार्फ़त हूँ। इसके बाद मेरे पते-पुत्रीशाला वाली गली, लार्डगंज, चौथा पुल, अग्रवाल कॉलोनी और रामनगर रहे। सभी जबलपुर के। ये पते मेरे नाम से थे और यहीं मैं अपने पिता के मार्फ़त से मुक्त हुआ। जीवन आधा-आधा जबलपुर और इलाहाबाद में प्रमुख रूप से बँटा हुआ है। मेरा सीधा संबंध शहरी जीवन से था जो शहर अब तक बदतर शक्ल ले चुके हैं।*

मेरी रचनात्मक शुरुआत 'पिता' कहानी से हुई। दुनिया की भाषाओं में पिता-पुत्र पर अनगिनत कहानी-उपन्यास लिखे गए। इस बड़ी भीड़ में मेरी 'पिता' कहानी खोई नहीं, क्योंकि वह मौलिक रचना-प्रक्रिया की उपज थी। यह कहानी देश में किशोरों, युवकों के पाठ्यक्रम में आई। जापान में बच्चों के पाठ्यक्रम में आने के साथ, भारत की अहिन्दी भाषाओं और अनेक विश्व भाषाओं में अनूदित हुई। अनेक एन्थालॉजी का हिस्सा बनी। स्मृति लोप से घायल इस पृथ्वी पर हमारी बातचीत की शुरुआत का यह तरीका बेहतर होगा।



प्रश्न : आप अपनी 'पिता' कहानी की कहानी बताएँ?

उत्तर : पिता-पुत्र संघर्ष हमारे समय में प्राय: सभी समाजों में अनवरत रूप से चलता आ रहा है। यह वहीं समाप्त हुआ जहाँ पिता जैसी या परिवार जैसी संस्थाएँ टूट-फूट गईं। मैंने लिखा, "पिता एक बुलंद दरवाज़े की तरह थे।" पर मेरी कहानी न तो पीढ़ियों का अंतराल है न पीढ़ियों का संघर्ष जैसा अध्यापक पढ़ाते हैं, आलोचक लिखते हैं। मेरी कहानी 'पिता' पुत्र के पिता के प्रति गहरे प्रेम की कहानी है, जो तनाव हैं वे एंटी नहीं हैं, तीखे लगाव में हैं।

***संपर्क** : **ज्ञानरंजन** : 101, रामनगर, अधारताल, जबलपुर-482004*
दूरभाष : 0761-2460393
***राजेन्द्र दानी** : प्लॉट नं. 15, केजी बोस नगर, गड़ा, जबलपुर-482003 (म.प्र.)*
मो. 9893881396

मैंने इस कहानी को एक निर्जन पर्वतीय गाँव गेठिया में रह कर लिखा। गाँव में रोशनी नहीं थी। युवकों के लिए एक छोटा-सा सेनीटोरियम भर था। भारत-चीन युद्ध के आसपास के दिन थे। पिता या किसी पिता की भौतिक उपस्थिति दूर-दूर तक नहीं थी। नीचे एक सड़क थी जिस पर सैनिक सामग्री ढोने वाले ट्रक दिन-रात पिथौरागढ़ की तरफ़ जाते-आते थे। गहरे सुनसान में बस यही आवाज़ थी। यहीं मेरी 'पिता' कहानी लिखी गई। खाने-पीने के लिए मैं नैनीताल जंगल मार्ग से आता-जाता था। मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि जब आप जीवन और उसकी घटनाओं को दूर से देखते हैं तो कहानियाँ बहुत मार्मिक बनती हैं।

आप अपनी कहानियों में किन कहानियों को लोकप्रिय मानते हैं और किन्हें प्रतिनिधि कहानियों के तौर पर रखते हैं? अगर भेद हैं तो किन कारणों से?

भेद को वर्गीकृत करना कठिन है और संभवत: ऐसा करना कृत्रिम भी होगा। फिर भी हर कहानी की एक सामाजिकता तैयार होती है और कई बार इस दबाव में आत्मपरकता पीछे छूट जाती है। मेरी स्वयं की प्रिय कहानियाँ, मेरी व्यापक रूप से पसंद की जाने वाली कहानियाँ और मेरी प्रतिनिधि कहानियाँ मोटे तौर पर ये वर्गीकरण बनते हैं। संभवत: कहानी की सरल और जटिल संरचना के कारण भी ये अंतर दुनिया बना लेती हो, पर अंतर हैं। दूसरों द्वारा सर्वाधिक पसंद की जाने वाली मेरी कहानियाँ हैं, 'पिता', 'फेन्स के इधर और उधर', 'अमरूद का पेड़।' मेरी स्वयं प्रिया कहानियाँ हैं, 'संबंध', 'यात्रा' और 'बहिर्गमन।' मेरी प्रतिनिधि कहानी है 'घंटा।' यूँ तो तत्कालीन सभी आलोचकों ने मुझ पर लिखा लेकिन जिन आलोचकों का मैं आदर करता हूँ उनमें सुरेन्द्र चौधरी, विश्वनाथ त्रिपाठी, विजयमोहन सिंह और देवीशंकर अवस्थी प्रमुख हैं। इसके अलावा दो-तीन नाम और हैं जिनके लिए मन में गहरी कृतज्ञता है। वे हैं नागेश्वर लाल, सत्यप्रकाश मिश्र और श्रीपत राय।

आपकी एक कम चर्चित कहानी 'शेष होते हुए' है, जिसे मैं व्यक्तिगत रूप से पसंद करता हूँ। इस कहानी में कथा नायक का जो घर है वह कौन-सा समय है, कौन-सा दौर है? वह आपकी दृष्टि में क्यों टूट रहा है?

'शेष होते हुए' जिन सालों में लिखी गई या छपी वह साठ का दशक था। काफ़ी पीछे जाना होता है। आप उसे देख नहीं सके। वास्तव

में मेरा हस्ताक्षर वहीं से शुरू होता है। कहानी स्वातंत्र्योत्तर उत्तर-भारत या नेहरू युग के बाद के हिन्दी प्रदेशों के परिवारों की है पर हम समय को किसी पेंचकस से नहीं कस सकते। तब संयुक्त परिवार के विघटन की शुरुआत थी, ख़ास तौर से शहरों में। तब बच्चे पढ़ने के लिए जा रहे थे, नई रोशनी से परिचित हो रहे थे। स्थानीयता कम हो रही थी, शहरी समाजों में चमक आ रही थी। विवाह संस्था को धक्के लग रहे थे। मोटे तौर पर लगभग पाँच दशक तक परिवार विघटन का सिलसिला तेज़ी से चला। यह विघटन कई प्रकार के थे, जिसमें आर्थिक स्वतंत्रता भी एक मज़बूत कारण था। धीरे-धीरे वस्तु स्थितियाँ स्थिर होती गईं। मन बेमन से लोग तैयार होने लगे। छोटे परिवार, वैवाहिक स्वतंत्रताओं और देशांतर को स्वीकृति मिलने लगी। पर यह बहुत तकलीफ़ों से भरा समय था, क्योंकि परंपरा और निजता को गहरी चोट पहुँची। बदलाव के दबावों और आकांक्षाओं में यह वेदना होनी ही होती है। बाद में इस तरह की कहानियाँ इसलिए लुप्त हुईं कि समय उलट गया और विकास-आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेज़ हो गई। मोह टूट रहा था, निर्ममता बढ़ रही थी। समय के दर्पण बदल रहे थे, गीत मर रहे थे, नई कविता उभर रही थी। रूमान की विदाई हो रही थी, देश में और परदेस में। 'शेष होते हुए' उसी दौर की कहानी है।

अब तक एक बहुत लंबा दौर गुज़र गया और कहानी लिखना आपका स्थगित है, तब भी क्या आपकी स्मृति में यह बात है कि लेखन के शुरुआती दौर में आप ने अद्‌भुत क्राफ़्ट और भाषा शैली की तैयारी की थी अथवा वह स्वयंस्फूर्त संभव हो सका?

पहली बात यह कि मैंने कहानी लिखना स्थगित नहीं किया, कहानी लिखना बंद किया। मैं असमंजस में नहीं निर्णय करते हुए स्टैंड लेते हुए जीने वाला व्यक्ति हूँ। मैंने तय किया और कहानी लिखना बंद किया। 'अनुभव' के बाद कभी कोशिश नहीं की। विश्वनाथ त्रिपाठी का आकलन सही है कि उन्हें 'अनुभव' पढ़ने के बाद ज्ञानरंजन के कहानी लिखने के अंत की आशंका हुई। विश्वनाथजी ने 'अनुभव' पर एक स्वतंत्र लेख भी लिखा। आप सोचिए कि मैं तैर रहा था और गुम हो गया और एक अच्छे अंतराल के बाद पानी के ऊपर निकला तो मेरे हाथ में 'पहल' थी।

अब आपके सवाल का दूसरा हिस्सा। मैंने शिल्प और भाषा की कोई तैयारी नहीं की। मैं ग़ाफ़िल था। मेरा लेखन भी स्वयंस्फूर्त नहीं है। वास्तव में शुरुआत एक समझदारीपूर्ण बचपन से होती है। शिल्प मेरे लहू में था, कला मेरी धमनियों में थी। भाषा समाज में बिखरी हुई थी। एक आर्गेनिक रचनावली बनावटी तरीकों से नहीं बनती। हम गलियों में भटकते थे। सूरतों का एक्सरे करते थे, मजाज़ को गाते थे। बिलकुल अराजक पर साहित्य और मार्क्स के विचारों ने हमें बरबाद होने से बचाया। मार्क्स को हमने किताबों से अधिक जीवन की पाठशाला में पढ़ा। हम साहित्यकारों के मेलजोल से सोहबतिया बाग़ में पहुँच गए। मैंने कहीं लिखा है कि मैं मशहूर अभिनेता मार्सिलो मॉस्त्रियानी पर मुग्ध था, जिसकी सूरत देखकर लगता था कि यह आदमी पैदा होते ही दुनिया को पहचान गया। इसलिए आप मुझे भी उसी के कुल गोत्र का समझें।

अंततः जब आपने लिखना शुरू ही कर दिया तब आपके दिलो-दिमाग़ में अपने आसपास की दुनिया को लेकर कौतुक होता था या एक समझ भरी मुस्कान या फिर इनकी सुंदरता आपके रसायन में पैदा होती थी?

कौतुक और कौतूहल एक किशोर मानसिक हलचल है। उसकी हदें छोटी हैं। हम पूरी तरह साहित्य की दुनिया के लोग थे जिसमें मैं अकेला नहीं था, हमारा मित्र समूह और पीढ़ी थी। शुरुआत से ही हम विश्व साहित्य, थियेटर और सिनेमा के निकट आ गए। हमने दुनिया की महानतम और विरल पत्रिकाएँ पढ़ीं। नेरुदा से लेकर मुक्तिबोध के बीच हम व्यतीत होते रहे। हमने मनुष्य को पढ़ाई, परस्पर संवाद, कला शैलियों, विचारों की हलचल के मार्फ़त समझा। अगर हम कौतुक मार्ग से चलते तो ठिठक-ठिठक कर, समय खपाते, ग़लती करते, शून्य में ही अटके रहते। पैदा होते ही एक बड़े ऑथर, पत्रकार के रूप में हमें हमारे पिता मिले, एक विशाल लायब्रेरी मिली। अरबी, फ़ारसी, उर्दू, संस्कृत वाले बाबा मिले और घर के बाहर पूरब का ऑक्सफ़ोर्ड इलाहाबाद मिला। तो हमें कौतूहल या कौतुक मार्ग की विवशता नहीं थी। मुस्कान जिसका आपने उल्लेख किया सरकास्टिक हो सकती है, व्यंग्यात्मक हो सकती है या पागलपन भी हो सकती है। मुस्कान कभी-कभार गंभीर सवालों को अंधी गली में भी डाल सकती है। मैंने कभी यह भी लिखा है कि हँसी या तो शास्ता की होती है या वेश्या की। यह जादू वाक्य नहीं है, इसका अर्थ समकालीनों को पूरी तरह समझना होगा।

आपकी कहानियों पर चर्चा के पूर्व कहानी के संदर्भ में एकाध प्रश्न मन में यह उठते हैं क्या कहानी अपनी अंतर्वस्तु के बग़ैर अपने शिल्प के बल पर कालजयी हो सकती है?

कतई नहीं। वह कालजयी क्या दैनिक भी नहीं हो सकती। आत्मकारक तत्वों और जीवन के बारे में नज़रिए से ही शिल्प गढ़ा जा सकता है। नसों में दौड़ने वाला लहू सिर्फ़ दौड़ता नहीं, रचयिता का निर्माता भी होता है। ऐसी रचना संभव नहीं जो अंतर्वस्तु को चुनौती देती हो। यह उस लेखन की अकाल मृत्यु होगी, जिसमें वह दस का दम दिखाता है, हालांकि आज दुनिया में ऐसे असंख्य लेखक पैदा हो चुके हैं जो शिल्प का तीव्र आग्रह करते हैं पर शिल्पी भी नहीं बन पाते।

जब 'पहल' शुरू हुई तब आप में उम्र की वजह से अधिक ऊर्जा रही होगी और साहित्य की गंभीरता के प्रति आप काफ़ी विचारवान लेखक रहे हैं। उस दौर में 'पहल' की प्राथमिकता क्या थी और साहित्यिक पत्रिकाओं को लेकर आपकी क्या अवधारणा थी? आप पहल के भविष्य को किस रूप में देखते हैं?

'पहल' मेरे स्वप्न से शुरू हुई। उस समय दुनिया में और देश में काफ़ी अच्छी पत्रिकाएँ निकल रही थीं। लघु पत्रिकाओं का आंदोलन था पर वह नुक्कड़ नाटकों, समांतर सिनेमा की तरह बिखर गया। 'पहल' को मैं 'ग्रांटा' की ऊँचाइयों तक ले जाना चाहता था, पर यह दुर्लभ और असंभव है। हिन्दी संसार इसमें मेरी मदद करने में असमर्थ है। 'कल्पना' और 'पोयट्री' जैसी पत्रिकाएँ डूब गईं। लोग नई तकनीक लेकर आ गए हैं। प्रकाशन तंत्र की पुरानी तस्वीर उलट-पुलट गई है। हिन्दी में अब बहुत-सी पत्रिकाओं के बीच साहित्यिक पत्रिकाएँ इक्का-दुक्का बची हैं। अधिकतर लोकप्रिय रचनाकारों के दम पर कुछ पत्रिकाएँ निकल रही हैं। पाँच-छह प्रयास ऐसे हैं जिनका आदर किया जा सकता है।

'पहल' का भविष्य वही है जो देश का है। मेरी किसी पत्रिका से कोई मुठभेड़ नहीं है। मुठभेड़ है तो समय से, काल से, देश से और वह भी निस्सार हो रही है, क्योंकि 'पहल' के निरंतर निकलने की कोई सत्ता नहीं है।

आपकी चर्चित कहानियों के आलोक में आपकी कुछ महत्वपूर्ण कहानियाँ दब जाती हैं, इन्हीं में से एक कहानी है 'आत्महत्या' जिसमें एक महत्वाकांक्षी युवक भयंकर समाचारों से आक्रांत होकर, जिसमें उसकी असफलताएँ भी जुड़ी होती हैं, आत्महत्या के लिए प्रेरित होता है। आत्महत्या के पहले जब वह खुद पर मोहित होते हुए अपनी आत्महत्या के कारणों को एक वक्तव्य के रूप में लिखता है तो उसके अंदर जीने की लालसा फिर से पैदा हो जाती है और अंततः वह आत्महत्या में भी असफल होता है। क्या आप बता सकते हैं कि उस वक्तव्य में क्या रहा होगा जो कलागत कारणों से कहानी में ओझल है?

कहानी कारण निवारण करती ग़ैररचनात्मक विधा नहीं है। 'आत्महत्या' कहानी आत्महत्या को निस्सार बताती है। यह कहानी भावुकता के ख़िलाफ़ है। वक्तव्य लिखना एक शारीरिक हरकत है,

जिसमें नायक थक जाता है। थकना और अंतराल दोनों स्थितियाँ आत्महत्या से विचलित करने वाली स्थितियाँ हैं। मेरी किसी भी कहानी में भावुकता के लिए कोई जगह नहीं है। इस प्रकार मैं 'आत्महत्या' कहानी के नायक को मृत्यु से उबारता हूँ। एक लेखक के आशावाद और सकारात्मक नज़रिए का ही यह प्रमाण है।

आपकी बहुचर्चित कहानी है 'यात्रा'। इस कहानी में भी एक मृत्यु प्रसंग है। एक मृत्यु की सूचना पर कथा नायक जिस तरह की हरकतें करता है, वह मृत्यु के प्रति बदलती सामाजिक अवधारणा का प्रतिफल है या नायक इन घटनाओं से बेपरवाह हो गया है अथवा मृत्यु को वह अंतिम नियति मानकर विचलित नहीं होता है? जबकि किसी निकट के व्यक्ति के न रहने पर विचलन स्वाभाविक है और अंत में क्या हम इसे नायक का व्यर्थताबोध मान लें?

'यात्रा' कहानी में मृत्यु की ख़बर और मौत तक पहुँचने के बीच एक यात्रा है, जो जीवन के संकेतों से भरी है। यह नायक के दुख को कम करती है, जीवन की प्रबलता को रेखांकित करती है, जीवन की निर्ममता का महत्व बताती है। वह भूख को महत्त्व देती है। वह मृत्यु को स्वीकृति देती है, हायतौबा को तोड़ती है और सामान्य दायित्वों की तरफ़ ढकेलती है। छाती पीटने और हाहाकार से बचते हुए नए समाजों की तरफ़ लौटना होगा। आप मृत्यु की पैरवी नहीं कर सकते और दुख है तो वह छाती के भीतर होता है। व्यर्थताबोध मेरे शब्दकोश और जीवन व्यवहार में नहीं हैं। मैं सेल्फ़ डिप्रेशन की ताक़त को अपनी जीवन-शैली से कमज़ोर करता रहता हूँ।

आपकी कहानियों में भिन्नताओं के कारण न चाहते हुए भी यह सवाल तो लोग पूछते ही हैं कि आपकी रचना-प्रक्रिया क्या है और कैसी है?

यह सवाल मुझसे बार-बार पूछा जाता रहा है। इसका उत्तर कठिन है। एक अमूर्त हलचल भीतर होती है और चीज़ें आकार लेने लगती हैं। आप नींद टूटने के बाद भी लिखते हैं, नींद न आने पर भी लिखते हैं, नींद में भी लिख रहे होते हैं। मैं वाचाल नहीं हूँ, वाचिक भी नहीं हूँ। इसलिए मैंने इस सवाल का उत्तर एक कहानी 'रचना-प्रक्रिया' लिखकर दिया है। यह मेरे छोटे-से रचना-संसार की अकेली और जुदा कहानी है और अश्लीलता की हद तक जाते हुए भी कला की ताक़त की तरफ़ लौट आती है, शराफ़त के संसार में। अंबाला में एक कहानी-लेखन विद्यालय है, बहुत पुराना, पता नहीं अब वह व्यर्थ हो गया हो, जहाँ लेखन का कौशल, कहानी की रचना-प्रक्रिया की शिक्षा दी जाती थी।

आपकी रचनाशीलता को काफ़ी समय तक नई कहानी के दौर की रचनाशीलता माना जाता था, लेकिन 'घंटा', 'अनुभव' और 'बहिर्गमन' जैसी कहानियों के बाद आलोचना की मानसिकता में अभूतपूर्व बदलाव हुआ। अगर यह सच है तो इस बदलाव का कारण बताएँ।

एक विचार यह था कि मैं नई कहानी के दौर का लेखक हूँ, पर इसे जल्दी ही अपदस्थ कर दिया गया। हमने नई कहानी की हदों को तोड़ा और साठोत्तरी कहानी के मुहावरे के दायरे में आ गए। ये सारे विभाजन कृत्रिम और आलोचकीय सुविधा के मुताबिक बनाए गए। हम धारा में थे और धारा प्रवाह थे और मेरी कहानियों ने हिन्दी कहानी के समाज को ही बदल दिया, क्योंकि सातवें दशक के बाद आज भी हमारी कहानियाँ प्रासंगिक हैं। वे बड़े पैमाने पर पढ़ी जाती हैं, उनका बार-बार ज़िक्र होता है। पाठकों के दबाव में आलोचना भी बदलती है, यूँ उसे कल्पनाशील होना चाहिए।

'घंटा', छिछोरों, लंपटों के उभरने का संकेत देती है। 'घंटा' हिन्दी में एक मुहावरा बन गया है। यह एक प्रयोग था जो पतनशीलता का चित्रण करती है। जब कहानी लिखी गई तो एक ही घंटा था, अब जो दुनिया है वह घंट निनाद से भर गई है। भारतीय सत्ता ने अपनी अपसंस्कृति से घंटों-ही-घंटों को पैदा किया। कहानी के जीवित रहने का यही कारण होता है, रचनाकार की दूरदर्शिता, आलोचक उसमें शामिल होता है या नहीं, यह मेरी चिंता नहीं है, जबकि मेरे संदर्भ में तो यह है कि आलोचक नए-पुराने बड़ी संख्या में बदलाव को पहचानते हुए मेरे कथा समाज में शामिल हुए।

अगर आप थोड़ा और गहरे डूबें तो 'घंटा' के नायक के विद्रोह को हास्यास्पद बताने के पीछे यह मंशा झांक रही है कि एक व्यवस्थित क्रांति, सुनियोजित परिवर्तन की समाज को ज़रूरत हो रही है। इसी तरह 'अनुभव' और 'बहिर्गमन' की भी अग्रगामी व्याख्या की जानी चाहिए। जिनमें दूर समय की कथा हैं।

आपने एक बार लिखा था, "कुल मिलाकर मैं यह लिखना चाहता हूँ, वस्तुतः मुठभेड़ ही हर रचना, हर अन्वेषण और लहराते जीवन का मूल है।" जब यह बात आपने कही थी तब आपका यह सपना रहा होगा, तो आप, जब जीवन के चारों ओर घनघोर लोलुपता और चाटुकारिता का बोलबाला है, क्या आपकी यह अवधारणा, आपका यह सपना आपके दिलो-दिमाग़ में क्या वैसे ही कायम है?

वास्तव में मैंने एक बुनियादी बात कही थी। घर फूंके बिना तमाशा नहीं होता। जब मैंने कहा था तब भी सच था और आज जब दोहरा रहा हूँ तब भी सच है। बुनियादी चीज़ें शिफ़्ट नहीं होतीं। वे अंतरात्मा होती हैं। कायम रहने की बात आपने की है, इसलिए बताता हूँ कि सपने और विचार और रचना की करवटें नहीं होतीं। यह दुनियादारी नहीं है, यहाँ गृहस्थ आश्रम की चिंताएँ डूब जाती हैं। जैसे जिए वैसे मरे। तमाशा नहीं करना। मैंने जितने भी पात्र कहानी में बनाए, खड़े किए उन सबकी ख़िलाफ़त की, उन्हीं से मुठभेड़ की। मुठभेड़ दूसरों से नहीं अपनों से करते हैं। मैंने अपने बनाए पात्रों से मुठभेड़ इसलिए की कि वे आडंबरों, रूढ़ियों, भावुकताओं, नाटकीयताओं में जी रहे थे। वे जीते-जागते मनुष्य थे, पर उनमें अंतरविरोध भयानक थे। यह रचनात्मक काम अद्भुत रूप से साहसिक और चमकदार है। अब भी और तब भी का सवाल नहीं, मुठभेड़ के बिना हम केंचुए हैं, लेखक नहीं। हाहाकार करने वालों के संबंध में मैं आपके किसी सवाल पर बता चुका हूँ। मैं परसाई को कोट करूँगा, ज़ख़्म दिखाना और सहानुभूति बटोरना, अनुकूलन और हाय हुसैन नहीं प्रतिरोध, मुठभेड़। यह एक अलग ही संसार है। इसी से रचनाकार को प्यार मिलता है, उसका दबदबा बनता है, सराहना होती है। रचनाकार जीवनभर तड़पता ही रहता है।

एक लंबे दौर तक आप प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े रहे पर प्रगतिशील आलोचना ने आपकी कहानियों के संदर्भ में बहुत कम विमर्श किया। क्या इसे आप आलोचना की चूक मानते हैं या इसके पीछे आपकी दृष्टि में दूसरे कारण हैं?

लगभग तीन दशक तक मैंने काम करते हुए प्रगतिशील लेखक संघटन को ऊँचाइयों तक पहुँचाया। संगठन में कार्यशैली का बदलाव करना होता है, संघटन लेखकों से प्रेम करता है, उसका हिस्सा होता है। वहाँ अनुशासन समितियाँ नहीं होतीं। महान रूसी कवि मायकोव्सकी कहते थे, "संघटन कंक्रीट की वह विशाल टंकी है, जो बाहर से चट्टान और भीतर से जल भरी है।" संगठन को ऐसा ही होना चाहिए।

प्रगतिशील आलोचना ने मेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया, वह एक महान दृष्टि है, कसौटी है। सभी प्रगतिशील रचनाकारों ने मुझ पर लिखा। सबका अपार सपोर्ट मिला है। इन सभी का मैं प्रिय रहा क्योंकि मेरी रचना-यात्रा खांचों में विभक्त नहीं। सोवियत यूनियन में मुझे प्रेमचंद की परंपरा का लेखक माना गया और मुझे नामवर सिंह की जूरी ने बहुत कमउम्र में प्रतिष्ठित सोवियत लैंड अवार्ड दिया।

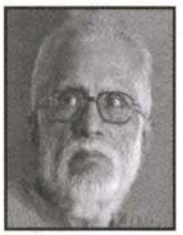
क्या आपने न लिखने का संकल्प किया हुआ है?

कभी-कभी सरसरी इच्छा होती है। मैं इलाहाबाद पर अपने दो बक़ाया निबंध पूरा करना चाहूँगा और एक लेख न्यूयार्क पर। दरअसल मैं न्यूयार्क को उधेड़ना चाहता हूँ। मैनहटन की शानदार ईमारतों और उसकी कत्थई ईंटों पर लिखूँगा, जिनसे रक्त छलकता है। ❑

● कहानी

शेष होते हुए

ज्ञानरंजन



जन्म : 21 नवंबर, 1936 (विदर्भ, महाराष्ट्र)। सातवें दशक के प्रमुख कथाकार। अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित। गद्य रचनाओं की किताब 'कबाड़खाना' बहुत लोकप्रिय कहानियाँ देश-विदेश के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में। शांति निकेतन से कहानियों का संग्रह बांग्ला में अनूदित-प्रकाशित। सोवियत लैंड नेहरू अवार्ड साहित्य भूषण सम्मान सहित कई विशिष्ट पुरस्कारों से सम्मानित।

अपना हैंडबैग और सूटकेस रिक्शे से उतारकर मझला घर के सामने खड़ा हो गया है। रिक्शा जाते हुए झनझना रहा है, फिर भी सन्नाटे में कोई फ़र्क नहीं है। मझला शीघ्रता से घर में नहीं घुस जाना चाहता। वह रुका है। मकान की सदर दीवालें, जब वह पिछली बार आया था तब की बनिस्बत और ज़्यादा काली हो गई हैं। कुछ वर्षों में उनकी पुताई बिल्कुल धूमिल पड़ जाएगी। पिछवाड़े के ऊँचे पीपल की अलग बाहर निकली डगाल पर आधे से कम चाँद है। मझले को अपना घर एक कृत्रिम फ़िल्मी सेट सरीखा लग रहा है। जैसे वह किसी नक़ली जगह के सामने व्यर्थ खड़ा हुआ है। इसलिए कि सेट का काम पूरा हो चुका, अब वह केवल नष्ट हो जाने के लिए ही बचा है।

कुछ ही पलों में उसका यह आभास गुम हो जाता है और मझला सड़क की पटरी से घर की हद में घुस आता है। लोहे का, ज़मीन पर लटका फाटक खुलने के लिए मुश्किल से धसका है। मझले की आँखों में पिछले वर्ष घर आने के अपने उत्साह और उमंग की तस्वीर नाचने लगती है। वह एक ख़ास ढंग से कॉलबेल बजाता, जिसमें संगीत पैदा करने की हल्की चंचल कोशिश भी शुमार होती। रात साढ़े नौ या दस के आसपास का समय, किसी पूर्व सूचना का न होना, शनिवार या किसी दूसरे छुट्टी से लगा दिन, महीने का पहला पखवाड़ा, लोग मझले की उम्मीद किया करते थे। मझला आता था। नौकरी के पहले-दूसरे वर्ष तक। फिर दुनिया के सभी लोगों की तरह घरवालों में भी मझले के आने की अकसर की जाने वाली उम्मीद चुक गई। इधर एक मामूल मुदर्रिस के लिए भी उम्मीद को सुखद संयोग में बदल देना संभव नहीं रहा।

मझला सोचने लगा कि आख़िर वह अपने घर जल्दी-जल्दी आता था? क्या इसलिए कि विघटन ने उसे अपने घर के प्रति बहुत मोहासक्त कर लिया था? समय की व्यापक शक्ति-संपन्न धारा उसे हमेशा निरीह करती रही, वह थककर लौट जाता रहा लेकिन मझला अब भी आता है। उसमें उतना उत्साह नहीं रहा, परिस्थितियों ने उसे पाट दिया है, पर भावुकता और मोह का चेहरा बड़ा बेहया होता है, उसमें रुमानी हैसियत का छलावा हमेशा चमकता रहता है।

व्यापक अंधकार पर केवल नक्षत्रों का प्रकाश है। मझला सोच रहा है कि वह घंटी बजाएगा तो किसी संयोग की आंशका में माँ लपककर दरवाजा खोलने आ जाएगी। आ गए बेटा... उसकी आँखें चमक उठेंगी, उसकी दोनों बाहें उठेंगी और नीचे चली जाएँगी। अब मझला बहुत बड़ा हो गया है। उसके मध्यवर्गीय संस्कार जवान बेटे की छाती पर भींचकर प्यार नहीं करने देंगे। वह सामान अंदर रखेगा। इसी बीच पिता अपने कमरे में थके-थके खाँसेगे। इस वृद्धावस्था में उनका किसी के आगे न झुकने वाला मन और किस तरह से अपने ग़ैरज़िम्मेदार बेटे को आकर्षित करे? ऊपर के कमरे में फ़र्श पर कुर्सी के पाँव पीछे खिसकेंगे। लकड़ी और सीमेंट के फ़र्श के घर्षण से उत्पन्न संक्षिप्त और निरर्थक शोर फैलाकर समाप्त हो जाएगा। टीनू दो मंज़िले से धम-धम उतरेगा। वह मझले के लिए आगे-पीछे दो-एक चक्कर लगाएगा, अपनी खुशी ज़ाहिर करने के लिए मुस्कुराएगा और वापस चला जाएगा। भैया-भाभी तो बड़े हैं, इसलिए उन्हें कमरे से निकलने में देर होती है या फिर से सुबह ही मिलते हैं। तारा शायद जागती ही मिले।

मझले ने जैसा सोचा, वैसा ही यंत्रवत हुआ। वह बरामदे में कपड़े बदल रहा है। उधर अंदर माँ फुसफुसा रही है। 'मझले को देखो, कोई ख़बर नहीं दी। इस बार बिल्कुल अचानक आ गया है। एक अस्त व्यस्त से भरी चुप्पी और फिर बुदबुदाता हुआ आदेश, चादर सब चीकट हो गई। तारा दौड़कर दो-एक चादर तो बदल दे कम-से-कम। फिर लपककर खुद झल्ली खटियों का उनचन कसने लगती है। मझला एक कमरे से दूसरे कमरे में, उन कसती हुई माँ, तकियों पर धुली खोलियाँ चढ़ाती बेहाल तारा, छोटे सफ़ेद बालों वाली खोपड़ी से फूसी झाड़ते पिता, निदित भैया-भाभी और अणु-अणु पर जा धूल की पर्तो पर एक ग्रिम लुक डालते हुए गुज़र गया। वातावरण एक ख़ास निरुत्साह को 'विस्पर' कर रहा है। वह कितना बचेगा। आँगन में अंधेरा हैं गुसलखाने का स्विच खराब हो गया है। कई बार ख़राब करने के बाद मझले को कुछ नहीं सूझा। वह लौट कर माँ के पास बैठ गया।

किसी को कुछ सूझ नहीं रहा है जैसे। क्या बोले? फिर पिता ही बोले। जम्हाई लेते हुए, लगता है आज तो गाड़ी समय पर ही आई। उनके बोलने में नींद भरी है। अम्मा उनचन कस चुकी है। वह मझले को घूरती हुई कहती है, कितने काले होते जा रहे हो तुम? शीतल से भी ज़्यादा। जब पैदा हुए थे तो गेहुआँ रंग था तेरा।

मझले को उठना पड़ गया। उसका बिस्तर बिछ जाए, तब तक के लिए मझला बाहर आ गया है। वह जानता है कि बाहर कुछ नहीं है, फिर भी आ गया है।

इस बार मझला बहुत दिनों पर आ सका। अंदर-बाहर दोनों तरफ़ बहुत-सी चीज़ें जो आसानी से बदल सकती हैं। बदल गई हैं। परिवर्तित स्थितियों ने मझले को बोझिल कर दिया है। उसे कठोर दृश्यों को स्वीकार करना पड़ रहा है।

संपर्क : *101, रामनगर, अधारताल, जबलपुर-482004, दूरभाष : 0761-2460393*

बाबा की कोठरी में लोहा-लंगड़, कोयला, लकड़ी और गोइंठा आदि भर दिया है बहुत पुराना एक टटहा हारमोनियम भी वहीं डला है। कबाड़ख़ाना। यहीं बाबा रामायण पढ़ा करते थे। उनकी रामायण गुलाब से भरी रहती। वे पन्नों के बीच पूजा के गुलाब दबा दिया करते। यहीं के खस-खस का एक चावल, बाबा गणित का अभ्यास कराते। परशियन गल्प के न्यायप्रिय बादशाहों की रोमांचक कहानियाँ चलतीं। तब जीवन शांत था। कोई घबराहट नहीं थी। कभी-कभी मझले से बाबा बुरी तरह खुनसा जाते और न बोलते। कोठरी में बड़े-बड़े मूस हो गए हैं मझला दरवाज़ा ओढ़का देता है।

जिधर सहजन, केला और कटहल थे उस पिछवाड़े की ज़मीन भैया ने अपना मकान बनवाने के लिए ले ली है। पेड़ों को कटवा के उन्होंने अपने नए और पृथक जीवन की नींव डालनी शुरू कर दी है। वे पसीने से लथपथ दिनभर मजदूरों की कामचोरी बचाते रहते हैं। दफ्तर से उन्होंने सिक लीव ले ली है। भाभी उनका चाय-नाश्ता भी वहीं पहुँचा देती है।

भैया ने मझले से पुकारकर पूछा, "क्यों कब आए?"

"कल रात।" मझले की छोटी-सी सूचना।

"अरे मुझे पता नहीं चला। चलो अच्छा हुआ। सब ठीक-ठाक चल रहा है?" मझले ने जवाब दिया "हाँ", सब ठीक-ठीक है और बात समाप्त हो गई।

मझला घूम गया। बग़ीचे में कुछ नहीं बचा। कुछ सूखे, अधहरे डंठल और पत्तियों वाले टूटे-फूटे गमले एक पेड़ के नीचे इकट्ठे रख दिए गए हैं। इसके अलावा वही पुराने मादा पपीते और मीठे नींबू के नाटे झाड़। कुछ क्यारियों में पोदीना खोंसकर ज़मीन को तर कर दिया गया है।

मझले ने देखा, एक ही घर में कई घर हो गए हैं। निजी व्यवस्था की प्रवृत्ति कुछ लोगों में छोटे पैमाने पर अंदर ही अंदर प्रयत्नशील है। ऊपर वाले अपने कमरे में टीनू ने एक अलमारी में शीशे की रकाबियाँ गिलास, प्याले और स्टोव भी छोड़ रखा है। उसके दोस्त वहीं चाय पीते हैं। वहाँ कुर्सियाँ हैं, बोतलों में मनीप्लांट, कटमाउट पर मढ़े चित्र और सुंदर बारह पेजी कलेंडर। टीनू अपने कमरे, केवल अपने कमरे को अच्छा से अच्छा रखता है। दूसरे कमरों की अच्छी चीज़ें ला-लाकर अच्छा कर लेता है।

भाभी का कमरा गुदड़ी बाज़ार है, लेकिन दैनिक उपयोग में आने वाली सबसे नई, सुंदर और फ़ैशनेबुल चीज़ें उन्हीं के कमरे में हैं। प्रसाधन सामग्रियों की जैसी सुगंध भाभी के कमरे में व्याप्त रहती है वैसी कहीं नहीं होती।

बरामदे के पार्टीशन में तारा का स्लीपिंग कम स्टडी रूम बन गया है। साफ़-सुथरा। उसकी अपनी पुरानी अलमारी को बदलकर बनाया वार्डरोब है। अपना आयरन, अपनी सुराही यहाँ तक कि अपने कमरे को साफ़ करने के लिए अलग झाड़ू। उसका कमरा घर का हिस्सा कम, छात्रावास अधिक महसूस मालूम होता है। यूनिवर्सिटी जाते समय वह पार्टीशन डोर पर एक छोटा-सा ताला दबा देना नहीं भूलती। दरवाज़े के दोनों तरफ़ उसने पता नहीं कहाँ से लाकर दो कोचिया के पेड़ गमलों में लगा रखे हैं। उसमें पानी देना तारा को रोज़ याद रहता है।

माँ-पिता के कमरे में कुछ नहीं है। उनके लिए किसी को भी फ़ुरसत नहीं। स्वयं उन लोगों को भी अपने लिए कुछ आवश्यक लगता है पता नहीं। पिता द्वारा लाई जाने वाली या उनके नाम पर आने वाली चीजें भैया-भाभी, टीनू और तारा के बीच बँट जाती है। उनके कमरे में सबसे पुराना टूटे हैंडलों वाला मोटा गद्देदार सोफ़ा है, बस जिसकी टपस्ट्री फाड़कर बहुत-सी स्प्रिंगें बाहर झांकने लगी हैं। लटक आई टाट की सीलिंग से दिनभर मिट्टी झड़ती रहती है। घास के तिनके, छिपकलियों, गौरैयों के अंडे और कभी-कभी पूरा का पूरा घोंसला ही रोशनदान से गुज़रने वाली तेज़ हवा वहाँ गिरा जाती है। दो हमेशा बिछी रहने वाली झिलगी चारपाइयाँ टाँग दी गई हैं। दिनभर इन सुतलियों पर मक्खियों की कतारें आराम करती हैं।

तारा जिस दिन यूनिवर्सिटी या किसी सहेली के घर से विदेशी फूलों का बगीचा देखकर आती है उस दिन अम्मा को सुनाने की ग़रज़ से तुनकती रहती है, पोदीना वो रखा है, इतनी ज़मीन पड़ी है, यह नहीं कि एक माली रखकर बग़ीचा तैयार करवाए कुछ अच्छा लगे। पता नहीं शुद्ध घी खाकर क्या करेंगे। उससे तो लोग और बीमार रहते हैं।

टीनू से पिता के टेबल-लैंप का बल्ब न जाने कैसे फ़्यूज़ हो गया है। धुँधलका बढ़ने पर पिता को उसके ख़राब होने का पता चला। माँ ने सच्चाई जानते हुए भी भयवश छुपाए रखने की कोशिश की। पिता बिगड़े। कोई नहीं बोला। 'सब घौरघप्प हो गए। वे उत्तरोत्तर गरम होकर चीख़ने लगे। फिर अम्मा ने साहस किया, "अब जाने दो टीनू से ख़राब हो गया, शाम के वक़्त इतना चिल्लाने से क्या फ़ायदा?" पिता अशांत ही रहे, "हाँ, मैं चिल्लाता हूँ खून-पसीना एक करके मैं जो कुछ ज़िंदगी भर जोड़ता रहा उस सबमें आग लगा दो।" वे अनरुक अपना दुखड़ा रो रहे हैं, "मैं घर छोड़कर ही चला जाता हूँ फिर जो चाहे करो।'

सबका मन कड़ुवा हो गया है, ऐसा लगता है कि जैसे खुले दरवाज़े से पिता सचमुच बाहर दूर चले गए हैं। घर में स्तब्धता छा गई। मझला निराश-सा बिना चाय पिए चला गया है। बाहर भी बहुत देर नहीं रह सका। जल्दी ही लौट आया। वातावरण ऐसा है कि खाना खाने की इच्छा उसे बेशर्मी लगती है। वह सो गया। नींद खुलने पर उसे लगा कि वह बहुत देर से सो रहा है लेकिन घड़ी में दस ही बजे थे। एक सोई बेचैनी लिए वह उठा। इस घर का क्या होगा और मझला ओसारे में चूल्हे के पास रखे खाने के टेबल पर टिक गया। मोंटूदा की कोठी में ताड़ वृक्ष खड़खड़ा रहे हैं। जब हवा रुकी होती है तो ताड़ नहीं खड़खड़ाता, चमगादड़ बोलते हैं। टीनू सचमुच बहुत क्रोधी और उद्दंड हो गया है। पिता से कैसी-कैसी उग्र बहसें करने लगा है। पहले मझला भी ऐसी ही बहसें किया करता था। फिर वह बिल्कुल ही चुप रहने लगा। कल टीनू भी चुप हो जाएगा। सतत खीझ और क्रोध की स्थिति में नहीं रहा जा सकता लेकिन भाभी और तारा दोनों को घर से विशेष सरोकार नहीं रहता। अम्मा अकेले गृहस्थी में घुनी जा रही है।

चूल्हे की राख की तरफ़ मझले का ध्यान चल गया। तपी हुई राख बसा रही है। गर्म राख सूँघते रहने से यक्ष्मा हो जाने का भय बना रहता है। मझले को पता नहीं किसने बताया था। कहीं माँ को भी...मझला मान नहीं सका लेकिन अंधविश्वास की प्रबलता और भय उस पर छाया रहा। वह टेबल पर से हट गया। उसने चूल्हे की राख पौने से बाहर खींच एक जगह एकत्र की और उसे तवे से ढाँप दिया। मझला भयभीत होकर ऐसा कर रहा था। उसके कलेजे में घबराहट धड़कने लगी। अगल-अलग जूठे बरतनों की बिखराहट के बीच अंदाज़ से संभल कर चलने के बावजूद भी दाहिने पाँव से एक गिलास ठंडा और लुढ़कने लगा। अम्मा ने अपने बिस्तर पर पड़े रहकर ही बिल्ली को धत धऽऽऽत भगा दिया। मझले को चैन हुई।

मझला अपनी खाट की तरफ़ लौटा। उसे सुनाई पड़ा अम्मा पिता से कह रही थी, "बल्ब की बात लेकर टीनू पर तुम बेकार ही नाराज़

हुए। इतना गुस्सा नुकसान करता है। तुम्हारा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं।" मझला ठिठक गया। पिता कहने लगे, तुम क्या जानो, मेरी छाती में हमेशा हाहाकार मचा रहता है। घर की हालत तुम देखती ही हो। जब भी बाहर निकलता हूँ ऐसा सोचता हूँ कि किसी शराबख़ाने में घुस जाऊँ। पैर अंदर जाते-जाते रह जाते हैं। फिर चुप्पी छा गई-किसी ट्रेजडी के बाद की सी चुप्पी। मझला रुका नहीं, बिस्तर पर आ गया। वह सोचता रहा कि अम्मा शराबख़ाने वाले पिता की बात से बिल्कुल भयभीत हो गई होगी। उन्होंने पिता के हाहाकार को सचमुच बड़ा दर्दनाक समझा होगा।

तारा की सहेलियाँ आई हैं। वे खिलखिला उठती हैं और लड़कियों की तरह फ़िल्मों पर झाँव-झाँव कर रही है। तारा उधर ही झूमी हुई है। पिता को यह हद से गुज़रा हुआ लग रहा है। पहले वे मोढ़े पर बैठे-बैठे सहते रहे। अब उठ गए हैं। इस कमरे से उस कमरे, उस कमरे से बरामदे, बरामदे से आँगन और आँगन से वापस मोढ़े पर। जब भी माँ को देखते हैं, उनकी आँखें अंगार हो जाती हैं और वे साफ़-साफ़ चिल्लाने लगते हैं कि तारा की लापरवाह और ढीठ प्रवृत्तियों की समस्त ज़िम्मेदारी अम्मा के ऊपर है। वहाँ पर मझले के पिता हर दूसरे मध्यवर्गीय पिता सरीखे ही लगते हैं।

तारा के कमरे से अनियंत्रित शोर-शराबा सारे घर में बिखर रहा है। पिता के बूढ़े मन के लिए उल्लास बड़ा कटु है। उन्हें यह सब अनुशासन को ताक पर रख देने जैसा लगता होगा। लकड़ी का पार्टीशन साउंडप्रूफ़ दीवाल नहीं है, इसलिए आवाज़ें ठहाके और बातचीत का ज़नाना हल्ला अभी भी उठता है।

पिता घूमते रहते हैं। धूप आँगन छोड़ रही है।

अम्मा पिता के क्षोभ को समझ रही है। फिर भी तरकारी काटने के अपने काम से ही संलग्न रहने की कोशिश करती है। हालाँकि वह तरकारी काटने में पूरी तरह शामिल नहीं है, पिता की वजह से डिस्टर्ब है। पिता अपनी चिड़चिड़ाहट को उगलने का मौका ढूंढ रहे हैं। वे इस मतलब से भुनभुना रहे है कि माँ उनको तवज्जो दे। फिर दो जुमला बड़बड़ाकर चले गए। "खूब है भई, चार घंटे हो गए गुलछर्रे उड़ते हुए। किसी घर में ऐसा नहीं देखा," गोया सचमुच उन्होंने बहुत-से घर देखे ही हों। दोबारा आकर काफ़ी कुड़मुड़ाते और तनेतने बोलते रहे, अकेले।

अम्मा चूड़ियों से भरी अपनी कलाइयों को बार-बार झटकते, चिमटा, फुँकनी और काम में आते दूसरे बर्तनों को पटकने तथा जबड़ों को भींचकर गालों में गुस्से के गड्ढे भरने के अलावा मौन है। वह जानती है कि मझला घर में ही है। कहीं उसने यह सब सुन लिया तो साइकिल लेकर चला जाएगा। कम-से-कम, मझला घर रहे तब तक माँ पिता का यह भुनभुनाना कतई पसंद नहीं करती। उधर तारा के कान में कुछ पड़ गया तो वह अलग ख़उब्बाने लगेगी। ऐसे ही उसे अपनी सहेलियों को घर लाने में शरम लगती है।

तारा की सहेलियाँ गईं और वह माँ की डाँट तथ ख़ासतौर पर पिता के भभकने से बच रही है। उसके चलने-फिरने में चाप नहीं उत्पन्न हो रही है और वह माँ से दबे स्वरों में प्यार से बोल रही है। अभी-अभी उसने डोरी पर से सूखे कपड़े तह करने के लिए उठाए है। साधारणतया तारा यह काम कभी नहीं करती। मझला उठ आया है। भाभी अपने कमरे से निकल चाय तैयार करने के लिए लकड़ी की चैलियाँ तोड़ रही है। टीनू स्कूल से लौट बाथरूम से फ़िल्मी गाने की पंक्तियाँ चीख़ रहा है। तारा अब काफ़ी सुरक्षा का अनुभव करती है। शायद अब पिता नहीं भभकेंगे, लेकिन गाल उनके ज़रूर फूले रहेंगे।

तारा की आवाज़ अब जाकर कुछ स्वाभाविक हुई है।

एक अजीब नकली ढंग से सब व्यतीत हो रहे हैं। टीनू को जब जूता ख़रीदना, सूट बनवाना, फ़ीस देना या सिनेमा जाना होता है तो वह पिता से प्रेमपूर्वक बात भी करता है और घर का काम भी कर देता है। तारा को ऊन या साड़ी लेनी होती है अथवा पिकनिक पर जाना होता है तो माँ से लिपट-लिपटकर मधु घोलती है। पिता खुश नहीं हैं, फिर भी टीनू की आवश्यकताएँ हद से बाहर पूरी कर रहे हैं। अम्मा निराश है फिर भी तारा के लिए पिता से सिफ़ारिशें किया करती है, लड़ती है।

बिना किसी घरू वातावरण और मिले-जुले सुखद कार्यक्रमों के ही मझले की अधिकाँश छुट्टियाँ बीत गईं। उसको चाय पीते-पीते शाम हो गई। इस समय मझला किंचित तरल है। सुबह से ही जिस शाम का इंतज़ार करता है, उस शाम का आ जाना उसके लिए सुखद है। इसलिए नहीं कि उसकी शामें भव्य होती हैं, वरन् इसलिए कि शाम के बाद दिन के बीत चुकने का एहसास करना बहुत सरल हो जाता है। दिन जो कि काफ़ी कठिन है और शाम के पहले इतिहीन से लगते हैं।

पुरातन शिलालेखों के समक्ष, उसकी लिपि से अज्ञात दर्शक की जो स्थिति होती है वैसी ही मझले की अपने घर के लोगों में हो गई है।

मझला घर से निकलने की तैयारी कर रहा है और मझले के शरीर तथा शरीर की गतिविधियों को घर के लोग नाटक की दृष्टि में देखने लगे है। उन्हें नाटक को भुगतना भी है और तटस्थ भी रहना है।

यह तटस्थ रहने की विवशता बड़ी दमघोंट है। माँ गुमसुम रहती है और पिता चिड़चिड़ा उमंग गुम हो गई है। पिता से टीनू तक सब अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियाँ झेल रहे हैं।

मझले का क्या, वह अभी कपड़े पहनकर निकल जाएगा लेकिन मन तो दूसरों का भी होता है। वे मसोसकर रह जाते हैं।

घर की शाम कलेजे को दबाती है। बाहर जीवन मंद नहीं है। वह विविध और उत्तेजित करने वाला है। इसी उत्तेजना के लिए मझले ने घर की शाम को त्याग रखा है। छुट्टियों में इधर आने पर घर की शाम का एक धूमिल एहसास उसे उन सड़कों पर होता जिन पर तेज़ी से दफ़्तर के बाबू घर के लिए लौटते होते हैं। उधर मझला किसी रेस्तरां या बार में जादुई लफ़्फ़ाज़ी करते, झूठी दुनिया की अनिवार्यता को सिर पर गंभीर अभिनय के साथ लादे, अंदरूनी तोर पर भागे, घबराए और बीमार लोगों के संसार में शामिल हो जाता है।

दिन पूरा हो गया? अभी-अभी अर्ध-रात्रि की सूचना देने वाले घंटे बजे हैं बारह घंटे काफ़ी देर तक बजे। मझला सोचता है, अच्छा होता ये घंटे बिल्कुल न बजते अथवा जल्दी बज जाते। शायद बजाने वाला अर्ध सुप्तावस्था में है। मझला अभी बाहर से आकर हड़बड़ी के साथ खाना ख़त्म करने लगा है। उसे डर लग रहा है माँ कुछ बोलने न लगें माँ का बोलना साधारण बोलना मात्र नहीं होता। धीमे से बोला गया उसका हर वाक्य पंख कटे परिंदे की बेजान उड़ान चेष्टा या दर्दीली चीख़-सा हाता है—इस चीख़ से मझला बचता है। पता नहीं बात ही बात में कब मन का बाँध टूट जाए। माँ का क्या, उसकी शादी की बात या भाभी की दूसरी घर बसाने की प्रवृत्ति की चर्चा ही छेड़ दे। दस-बारह दिन की तो छुट्टी, इस पर वह इतनी देर-देर तक घर क्यों लौटता है अथवा पिता के बहुत गिरे स्वास्थ्य के बारे में ही माँ के पास बहुत-सी ख़तरनाक बातें हैं। मझला सिर झुका यंत्रवत खाना खा रहा है। सोचता भी है। पहले दिन उसके आने पर माँ खीर, सलाद या और दूसरी अच्छी चीज़ें बनाती है। फिर रोज़ की ही तरह खाना बनने लगता है। माँ के अंदर बस इतना ही उत्साह बच गया है। पचास वर्ष की माँ

अपने बीस वर्ष के माँ स्वरूप को समय-ज्वाल में जला चुकी है। तीस वर्ष पहले जब मझला पैदा हुआ था, पैदा करने, पोषण करने के बाद अपनी संतानों के लिए उसके पास कोई कार्यक्रम नहीं है। सिवाय इसके कि वह खुद को तिल-तिल मारे और मझले, टीनू की बहू का एक कठोर स्वप्न उसमें कभी नहीं मरे।

मझले को एकदम से ख़्याल आता है कि जब भी वह रात को देर से लौटा है, केवल माँ ही उसे जागती मिली है। बाक़ी लोग अपने-अपने बिस्तरों पर क्षणभर कुनमुना कर पुन: बेख़बर सो जाते हैं। टेबल पर खाना मुदा रहता है। माँ लाचारी से बर्फ़ हो गए खाने पर निगाह डालकर सुस्त हो जाती हैं। मझला चुटकी में खाना निगल लेता या खाता ही नहीं, टाल जाता है। रोज़ तकरीबन यही होता है। बिस्तर पर जाने के बाद मझले को तरस खाने की फ़ुरसत मिलती है। वह सोचने और ग़म करने लगता है कि उसे माँ की आँखों में कभी-भी नींद क्यों नहीं भरी मिलती। आंखों में माना दर्द की एक शिला उसे अंदर ही अंदर भेदती रहती है। मझले को भी मातृत्व के नाम पर महज़ यही ख़ौफनाक ढर्रा नसीब है।

बाहर सड़क पर मुहल्ले में गश्त लगाने वाले चौकीदार जमा होकर ज़ोर-ज़ोर से हँसी-ठट्ठा करने लगे हैं। उनकी चोरी से पी गई चिलम का गांजा बू मार रहा है। जो लो सो रहे हैं उनके लिए चौकीदारों की सीटियाँ रात का पूरा मतलब देती है। जागती हुई माँ और मझले के लिए रात एक त्रासद शुरुआत वाली कहानी है।

मझला टेबल पर पानी का गिलास ढूँढने लगता है। यद्यपि वह निश्चित रूप से जानता है कि टेबल पर गिलास नहीं है। माँ उठती है। पानी ला देती है। फिर बैठ जाती है। उसके लिए मझले से कुछ बोलना ज़रूरी है।

"बेटा! टीनू के बारे में क्या सोचते हो? उसका दिमाग़ ख़राब होता जा रहा है। देखते नहीं कितना गुस्सा और बदतमीज़ी करने लगा है," माँ आख़िर बोली ही।

मझला गिलास का पानी समाप्त हो जाने के बाद भी गिलास की कोर को ओठों से नहीं हटा रहा है। वह झूठमूठ पानी पीने का अभिनय करता हुआ माँ के प्रश्न का अज्ञात उत्तर खोज रहा है या प्रश्न को भूल रहा है। आख़िर उसे कुछ सूझा नहीं, इसलिए गिलास रखते हुए कहता है, तो मैं क्या करुँ? मझला जानता है कि वह ऐसा नहीं कहेगा तो उसे बहुत-सी उलझने हो जाएँगी।

इस तरह से बात को समाप्त कर देना माँ को अच्छा नहीं लगा होगा लेकिन उसने कहा कुछ नहीं। बस यही सोचने लगी कि देखते-देखते मझला कितना निर्मोही हो गया है। पहले सबका ख़्याल करता था, अब अपना भी नहीं करता।

मझले को माँ ज़िंदगी से देखती आ रही है, पर आजकल सचमुच बहुत कड़ा हो गया है। मझले का कड़ापन उसे कातर करता है। कभी-कभी माँ के नेत्रों में एक बदनसीब गिड़गिड़ाहट भी भर आती है। मझले, ब्याह कर लो। किसी लड़की से कर लो। किसी तरह कर लो। जेठ बहू ने तुम्हारे बड़के भैया को छीन लिया, फिर भी कर लो। दुनिया में सभी करते हैं। तू अपने साथियों में अकेला पड़ जाएगा। तुम्हारे पिता बिल्कुल लुट गए हैं। अगर हमसे कुछ ग़लती हो गई हो तो बेटा माफ़ कर दो। माँ की आँखें इसी तरह बोलती रहती है लेकिन मझले ने माँ की कभी नहीं मानी है। बचपन से ज़िद्दी रहा है। बाप तो बुढ़ापे तक हैं।

माँ अपने सभी बच्चों से डरी रहती है। इन दिनों मझले से और डरने लगी हैं। पिछली बार जाड़े के दिनों से वह सहम गई हैं, जब एक दिन खाने के तुरंत बाद मझले ने भल-भल शराब की ढेर सारी बदबूदार उल्टी टेबल पर ही कर दी थी। उन्हीं दिनों बड़े भैया ने भी अपने हिसाब-किताब का फ़ैसला कर लिया था। माँ के मन में मझले के भविष्य के बारे में काफ़ी डर है। स्त्री के बिना कोई कैसे रह सकता है? भयग्रस्तता उसके स्वभाव में शुमार हो गई है। अगर मझला शादी को तैयार हो जाए, तो भी वह किन्हीं बुरे परिणामों की कल्पना से डरी रहेगी।

देर से होने वाली सुबह की खटर-पटर से मझला जाग गया है। पिता माँ पर आरोप लगा रहे हैं कि वह लड़कों को 'प्रोटेक्ट' करती है। नहीं तो क्या मजाल कि लोग आठ बजे तक सोते रहें। मझला अपनी तरफ़ किए जाने वाले इन संकेत को समझता है। यह बिस्तर पर लेटा हुआ पिता की अप्रत्यक्षता और कायरता के बारे में सोचने लगता है। ये अपना हर असंतोष आसानी से माँ पर थोप देते हैं। सभी कायर हैं, क्योंकि माँ दुर्बल है।

वह खुद जब कभी अपने प्रति माँ की प्रेम उत्कटता का लाभ उठाता है, पिता उसे अपनी योग्यता और 'हाहाकार' के भावुक शब्दों से दबोचते हैं। तारा माँ को जनरल नॉलेज से आक्रांत करती है। उसके अनुसार माँ को नए मैनर का नहीं पता। टीनू अपनी उच्छृंखल आवाज़ में बात-बात पर माँ को दुत्कार जाता है। बड़के भैया की उँगली पर संप्रत्ति का एक छोटा-सा पहाड़ है, जिसके नीचे माँ को धौंस के बावजूद भी शरण लेनी पड़ती है क्योंकि उसकी आँखों के सामने एक अधर है, जिस पर से उसे अपने अव्यवस्थित बच्चों को उतारना है, पर मृत्युक्षण तक की दूरी है, जिसे पार करना है। हालांकि इस पहाड़ पर से भी उम्मीद की किरणें डूब रही हैं।

माँ बाहर नारियल की झाड़ से पीपल के सूखे पत्ते बटोरने चली गई है। भाभी सुनाने की ग़रज़ से भुनभुना रही हैं, "चाय बनाई जाए या खाना। दस बजे महारानी यूनिवर्सिटी जाएँगी, उन्हें नौ बजे खाना चाहिए। यहां अभी तीसरी बार चूल्हे पर चाय का अदहन चढ़ा है।"

गलगल चिड़ियाँ का एक झुंड तैरता हुआ आया और पुदीने की क्यारी के पास बैठ चिचिया रहा है। माँ झाड़ू से उन्हें हाँकने लगती है। चिड़ियाँ थोड़ा फ़ासला छोड़ उड़कर आगे बैठ जाती हैं। ये भूरी चिड़ियाँ शोख़ और खूब शोर करने वाली है। माँ उन्हें उड़ाने को बेताब और परेशान है।

मझले को खूब याद है, माँ किसी पशु को खिलाते लाड़ करते हुए जो बहुत-सी काव्य-पँक्तियों गाया करती थी। उनमें से एक 'गलगल मौसी आई है, पत्ते में गुड़ लाई है' उन्हें बहुत प्रिय थी। फिर भी माँ मानती है कि 'गलगल बहुत बुरी है और मनहूस चिड़िया है।' गौरेया घर बसाऊ है तो गलगल घर उजाड़ू।' माँ हाँफ़ गई है, लेकिन उसने चिड़ियों के झुंड को मकान की हद से बाहर कर दिया क्योंकि गलगल घर उजाड़ू चिड़िया है।

मझला खिन्न और अवसाद ग्रस्त हो गया है। भाभी रसोई में हलकान है। माँ उधर नहीं जा पाएगी। तारा पढ़कू है। भाभी भी अकेली कैसे करें? मझला सोचता है कि वह कहीं बाहर चाय पी लेगा। उसकी तो बाहर चाय पीने की आदत-सी ही पड़ गई है लेकिन उसे इसी घर में व्यतीत होना है। यह व्यतीत होना भी कितनी मुश्किल बात हो गई है।

मझले को कुछ रुपयों की ज़रूरत पड़ गई। उसने माँ से माँगे। माँ ने भैया से कहा। भैया का बड़प्पन दहाड़ने लगा, "क्या करेगा वह इतने रुपए? इसी तरह लोगों की आदत ख़राब होती जा रही हैं। साला ठेकदार

पृष्ठ 20 पर जारी..

तारामंडल के नीचे एक आवारागर्द

ज्ञानरंजन

इलाहाबाद की यात्रा में जिस तरह के चित्र दिखे या बने थे उनको देख कर बहुत भ्रमित हूँ। इस बीच निराला के बाद पचास साल के लगभग का समय व्यतीत हो गया है। पता नहीं यह परिवर्तित होते चित्र हैं या नष्ट होते हुए। मैं बार-बार गया, हज़ार बार गया, पचास सालों में। कुछ चीज़ें हैं जो जस की तस हैं और कुछ जो घड़ियों, कैलंडरों के हिसाब से घूम रही हैं, पिछड़ रही हैं। चीजें, जीवन के बाद मृत्यु की तरह नष्ट होतीं तो सहज लगता, ध्यान न जाता लेकिन जो चीज़ें स्थिर हैं वे भी अंत की तरह हैं और जो जीवन का आभास देती हैं वे भी अंत का ही निवाला हैं। ऐसा लगता है कि अकाल अब हर समय चल रहा है। अब अकाल ही अकाल है। लोग जादुई तरह से, कराहते हुए ग़ायब हो रहे हैं। अभी-अभी वे थे और अभी-अभी वे नहीं हैं। चीज़ों के निशान बचे नहीं या बने ही नहीं। क्या आज सभी शहरों की एक जैसी हालत है या इलाहाबाद ही वह एक शहर है जो मरी हुई आँखों की पुतली की तरह फैल गया है।

निराला जिस गंगातट को छोड़ कर या उदास टिप्पणियों के साथ त्याग कर चले गए वह किस तरह हमारे कवि ज्ञानेंद्रपति को लुभा रहा है, इसकी पड़ताल अभी की जानी है। आज जो शहर ज़हर से भरा है उस पर इतना गर्व और पवित्रता की ऐसी छाया समझ में नहीं आ रही है। जगदीश गुप्त ने इस गंगातट की जीवन रेखा को कुछ हद तक हिचकते-हिचकते खींचा और उनके अस्त होने के बाद वह इलाहाबाद का अंतिम सूर्यास्त हुआ। हिचकते-हिचकते इसलिए लिख रहा हूँ कि वे इलाहाबाद के एकमात्र ऐसे कवि थे शायद जिनका मन बृजवासी था और कविता की मूल आत्मा भी बृज में ही भटक रही थी। वे नई कविता के आंदोलनकर्ताओं में शामिल हो गए पर पूरी तरह उसमें समाहित नहीं हो सके। विभक्त रहे क्योंकि गंगा के आसपास उनकी संवेदना भटक रही थी। उसके साथ उनकी नदी थी, नावें थीं, मल्लाह थे, मत्स्य कन्याएँ थीं और थी वह चित्रकला जिसमें शांतिनिकेतन बैठा हुआ था। आज गंगा तट पर रेत, निराला के तन से सौ गुना अधिक बढ़ गई है। महाप्राण में रेत ही रेत धधक रही है। जिन ग्रीक देवताओं ने बक़ौल धर्मवीर भारती इलाहाबाद का गौरव शिल्प तैयार किया था उनके मृत्यु लेखों का भी नामोनिशान बक़ाया नहीं है। शिल्प और मानव गतिविधियों की संगति का संगीत भंग हो गया है। बाबू भगवती चरण वर्मा का जगाती रास्ते-रास्ते 'तीन वर्ष' उपन्यास के बाद डूब ही गया। रास्ते राहत में बस लू की ज्वाला ही बची है। छायादार पाकड़ का पेड़ गिर गया है, बूढ़ा होकर और रेस्तराँ की कुर्सियाँ भी लँगड़ी हो गई हैं। दूधनाथ सिंह की जिस कहानी में साउथ रोड की बत्तियाँ झिलमिलाती थीं, मैरीन ड्राइव पर लहराती हुई रोशनी की लंबी लड़ की तरह, उस सड़क पर शाम का पीलापन है और रात का अँधेरा। इस दुनिया में बँटवारा हर जगह है, हर चीज़ का है। शहर में इतना झमेला बढ़ जाएगा, सोचा नहीं था। आदमी खुश होने की जगह थका-थका है। बग़ीचों में दफ़्तर खुल गए हैं और सड़कों पर घर बन गए हैं।

इलाहाबाद के तीन तरफ़ नदी थी। तीनों तरफ़ की सड़कें निकलती हुई नदी में गिर जाती थीं। फिर तीन तरफ़ ब्रितानिया सरकार के बनाए गए जंगी पुल थे। नदी में गिरी सड़कें इन पुलों पर चढ़ जाती थीं। इन पुलों से सड़क भी गुज़रती थी और रेलगाड़ी भी। इन सड़कों से लोग दिन पर नदी की तरफ़ जाते थे। अब बहुसंख्यक शरीफ़ लोग नदी को अपने घरों तक ले आए हैं। इन्होंने नारा दिया है 'गंगा लाओ अपने द्वार।' भद्र जन जिस सुख और सुविधा को देख लेते हैं उसे अपने दरवाज़े पर लाने की हिकमत पूरी कर लेते हैं। इनमें संचय करने की अद्‌भुत सिफ़त है। इसलिए अब बहुत-से लोगों को नदी की तरफ़ जाने की ज़रूरत नहीं रही। रेलगाड़ी और बैलगाड़ी और नावें और डग्गे इनके लिए इनके दरवाज़े सब कुछ ले आते हैं। इस तरह नदियों के किनारे सभ्यताएँ हैं भी और उनसे दूर भी चली गई हैं। नदियों के किनारे जो रहते हैं वे डूब जाते हैं। दूर रहने वाले बच जाते हैं।

जिस तरह निर्मल वर्मा की सभी कृतियाँ बार-बार 'वे दिन' हो जाती हैं, कुछ उसी तरह मुझे भी इलाहाबाद के वे दिन याद आते हैं। हमें समझ नहीं आता कि शहर के प्रति यह कैसी दीवानगी है। हम अपनी उम्र की स्वाभाविक चाहतों से दूर और लगभग उनके विरुद्ध स्थानों, दोस्तों, किताबों और उनके लिखने वालों पर फ़िदा हैं। एक समय तक हिन्दी का आधुनिक इतिहास इलाहाबाद की उपज था। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने जब यह कहा था कि हिन्दी की नई कविता का इतिहास और परिमल का इतिहास एक है तो कमलेश्वर ने उसी सभा में ज़मीन हड़पने वाले इस पटवारी पर गहरा आक्रमण किया था लेकिन यह बहुत विचित्र है कि कवि और कथाकार बँटे हुए थे। अजित कुमार, भारती, साही, जगदीश गुप्त, विपिन अग्रवाल, मलयज, पंत, लक्ष्मीकांत वर्मा, श्रीराम वर्मा, शिवकुटी आदि कविता वाले इलाहाबाद में थे और अमरकांत, कमलेश्वर, मार्कंडेय, शेखर जोशी, भैरव प्रसाद गुप्त, अश्क, अमृतराय, बलवंत सिंह, दूधनाथ सिंह, शैलेश मटियानी, कालिया दंपत्ति, रामनारायण शुक्ल आदि कहानी वाले इलाहाबाद के थे। इन सभी नामों के साथ एक और लंबी लाइन दोनों तरफ़ थीं जिसमें हम लोग सूचीबद्ध हो सकते हैं। दोनों दलों की पत्रिकाएँ थीं और दोनों के संगठन थे। दोनों का समान दबदबा था पूरे हिन्दी साम्राज्य में।

महान यायावरों ने भौगोलिक अस्मिताओं की खोज की है। यह खोज आज भी जारी है। वे लाँघते रहे हैं लंबी-चौड़ी दूरियाँ और हम भी नगर पालिका के नक्शों और सीमाओं में भटकते रहे। अपने शहर का अर्थ और शहर का रहस्य खोजते रहे। जिन चीज़ों को हम भरपूर आँखों से देखते हैं, जिनके बारे में शत-प्रतिशत गारंटी होती है उनकी भी खोज करनी होती है। एक अच्छे-बुरे दृश्य को बार-बार हज़ार बार देखना होता है। हमने असंख्य बार शहर की परिक्रमा की। चप्पे-चप्पे को पददलित किया। और हम कभी ऊबे नहीं, कभी हमारा मन भरा नहीं। जिस तरह रोटी-दाल खाते-खाते हम कभी ऊबते नहीं। कई बार दिन और रात हमारी परिक्रमाओं के इतने सुनसान होते थे कि हमें अपने पदचाप सुनने के अलावा कोई ध्वनि तंग नहीं करती थी। इस तरह हमने अपने युवावस्था में अपने शहर को, सब कुछ छोड़छाड़ कर केवल प्यार किया। ऐसी दुकानें थीं, ऐसे ढाबे, ऐसी गुमटियाँ थीं, ऐसे रेस्तराँ जिनमें हमें उपभोक्ता नहीं, स्वामी समझा जाता था। ऐसे-ऐसे घर थे जहाँ हम मेहमान नहीं, घर के सदस्य थे। चूँकि हम हर समय शहर में उपस्थित रहते थे इसलिए हमसे अधिक विश्वसनीय कोई नहीं था। ऐसा भ्रम हो सकता था कि हमारी जेबों में मज़े के पैसे हैं पर वास्तविकता यह थी कि हमारी जेबों की सिलाई ही उखड़ी हुई थी।

आज मैं जिस समकालीनता की इतनी गहरी गिरफ़्त में हूँ तो इसका कुछ लांछन इलाहाबाद को भी दिया जा सकता है। इलाहाबाद में बनारस के तत्व बिल्कुल नहीं हैं। अब यह स्वप्न एक लंबे नशे के बाद तब भंग हुआ जब चिड़िया चुग गईं खेत। अब समझ में आ रहा है कि समकालीनता को इतने शिद्दत से गले लगाना एक फ़ालतू कर्म था। हमने इसमें डूबे रह कर इसको ही अपार संसार मान लिया था। हमारी उम्र ऐसी थी और हमारे शहर का पर्यावरण कुछ इस प्रकार का था कि हमने छायावाद के शीर्ष रचनाकारों और प्रगतिशील उन्मेष के अलावा पश्चिम के तमाम आधुनिक हस्ताक्षरों के दबदबे में ही अपना चक्र पूरा किया। बादलेयर की कविताएँ, मोदिग्लायानी की जीवनी और ओसामू जाय के सेटिंग सन की आत्महत्याएँ और दास्तोवेस्की की अवसाद की मथानी से हृदय को मथते हुए हमने अपनी सुबह-शामों को व्यतीत किया। बहुत ही विचित्र तरह से हम अपने शहर को पहचानते थे। आवेग और सनक ही थी कि पहचानने की इसी शैली पर बार-बार मुहर लगाते रहते थे। समकालीनता का नशा ऐसा होता है कि वह धुर अतीत और दूर भविष्य दोनों पर धूल डाल देता है।

उत्सुक, जिज्ञासु और फड़फड़ाते हुए लोग जो इलाहाबाद आते थे और जानकारियाँ चाहते थे, उनसे हम लोग इस तरह पेश आते थे जैसे किसी ऐतिहासिक स्थल के गाइड हों। हम बताते थे कि कॉफ़ी हाउस के इस कोने और इस कुर्सी पर साहीजी बैठते है। और यहाँ लक्ष्मीकांत वर्मा जिनको इलाहाबाद का 'एनसायक्लोपीडिया' कहा जा सकता है। यह जैन पान वाला है, यहाँ धर्मवीर भारती पान खाते थे और चिल्लर करवाते थे। यह निरालाजी की मिठाई की दुकान है। मतलब यहाँ उनका उधार चलता है। जगदीश गुप्त के इस घर से गंगा का पाट सबसे विस्तार में दिखता है। इस न्याय मार्ग, पुराने हेस्टिंग्स रोड से अमृतराय और महादेवी के घर जा सकते हैं। इधर मुड़ो तो बच्चनजी का घर, अंग्रेज़ी क़ब्रिस्तान से घूम कर चले जाओ तो मार्कंडेय और ओंकार शरद के घर मिंटो रोड पर पहुँच जाएँगे। इस गली में नरेश मेहता और उस गली में भैरव प्रसाद गुप्त और सामने खुसरूबाग की ऐतिहासिक दीवार के सामने उपेंद्रनाथ अश्क का मोर्चा था। यह मोर्चा बहुत रंगीला और हलचल भरा था। यहाँ कूटनीतिक विवाह और प्रेम प्रसंग हुए और मतवाली साहित्यिक लड़ाइयाँ लड़ी गईं। यहीं से संकेत निकला। फ़िराक साहब ने बैंक रोड का मकान सेवानिवृत्त होने के बाद भी नहीं छोड़ा और विश्वविद्यालय ने उनको छूट भी दे दी। यह लाउदर रोड का एनी बेसेंट मेमोरियल है जहाँ परिमल ने अपने अनेक महत्वपूर्ण आयोजन संपन्न किए। यह खपरैल वाला पुराना बंगला बालकृष्ण राव के माध्यम का संपादकीय कार्यालय है। पीछे संगम निकलता था लीडर प्रेस से और इलाचंद्र जोशी उसके संपादक थे। यहीं पर इक्कीस कहानियों वाले वाचस्पति पाठक का पटिया था जहाँ इलाहाबाद के वे लेखक आते-जाते थे जिन्हें साहित्यिक गपाष्टक और चुहलबाज़ी की चाट लगी थी। इसी परिसर में भारती भंडार था जिसने जयशंकर प्रसाद, मैथिलिशरण गुप्त, निराला और उस समय के महान जीवित रचनाकारों का प्रकाशन किया। इलाहाबाद में जो जहाँ रहता था वहीं रहता रहा। अपने ही शहर में बार-बार स्थान परिवर्तन यहाँ नहीं मिलेगा। लोग जहाँ रहे प्रायः वहीं दिवंगत हो गए या बचे हुए हैं, निष्कासित नहीं हुए। ममता कालिया और रवींद्र कालिया ज़रूर रानीमंडी से गंगातट गए लेकिन उनका यह परिवर्तन केवल एक बार और बहुत लंबी देर बाद हुआ। ये लोग शबखून वाली गली के अंत में रहते थे। यह बहुत ही संवेदनशील और संगीन इलाक़ा था। यहाँ अकेला हिंदू घर उन्हीं का था। इस इलाक़े में कलेजे वाले ही रह सकते थे। यहाँ लंबे दंगे होते थे, लंबे समय तक यह क्षेत्र निषिद्ध हो जाता था। कालिया दंपत्ति यहाँ सर्वाधिक सुरक्षित रहे और अपने जीवन की सबसे सुस्वादु बिरयानी भी खाते रहे। बीसों साल बाद यमुना के पुश्ते से गंगा के पुश्ते की तरफ़ गए। दूधनाथ सिंह कासिल्स रोड के बैरक्स को बमुश्किल त्याग कर गंगा पार चले गए हैं। दूधनाथ सिंह ने मकान बार-बार बदले और गए तो अपरंपार गए। हालाँकि उनकी कहानियों के मुख्य अभियंता सब इसी पार छूट गए हैं। गिरिराज किशोर कॉफ़ी हाउस के बग़ल में जब तक रहे, डटे रहे। उनका घर हमारा रास्ते राहत था क्योंकि हमारे घोर भुक्कड़ दिनों में गिरिराज ही एक चमचमाते दोस्त थे। मेरे घर से सौ क़दम पर पद्मकोट नाम की सुप्रसिद्ध कोठी है जहाँ कभी श्रीधर पाठक रहा करते थे। शानदार कोठी तेज़ी से उजड़ रही है। इससे पता चलता है कि महान वास्तुकलाएँ भी सौंदर्य की आपदाएँ बन जाती हैं। सुमित्रानंदन पंत कब तक कौसानी रहे और कब इलाहाबाद आकर बस गए, यह पता नहीं पर पहाड़ी कॉटेज के चारों ओर के नैसर्गिक सौंदर्य और शीतल आबोहवा को शायद वे इसलिए छोड़ आए गर्मागर्म इलाहाबाद के लिए कि उन दिनों इलाहाबाद के बिना किसी का चारा नहीं था जिस तरह आज दिल्ली का चारा चल रहा है। उस ज़माने की साहित्यिक राजनीति रचनाशीलता कुल मिला कर बनारस और इलाहाबाद के केंद्र में थी। बाक़ी थोड़ा-बहुत पटना और कलकत्ता। पंतजी उन दिनों स्टेनली रोड पर मैसानिक लॉज के पास रहते थे। वहीं अंतिम समय तक रहे। मनहूस भुतहे मैसानिक लाज की छाया पंतजी के मकान पर पड़ रही है। मैसानिक लाज जिस शहर में रहता है कुछ रहस्यमय और गोपनीय ही बना रहता है। पंतजी के घर की चुप्पी उतनी ही आधुनिक थी जितनी वह कॉलोनी थी। इस घर में कुँआरे रहते हैं। दो-तीन की जनसंख्या ही रहती है यहाँ। यहाँ चुनिंदा लोग आते हैं। पंतजी के बारे में कहा जाता था कि वे इतने सुकुमार और कोमल हैं कि बच्चों की कूक और किलकारी भी उनके कर्णतंत्र पर घाव कर सकती है। उस समय हमें बार-बार यही व्याकुलता थी कि कोई लंबे-लंबे घुंघराले बालों की झूलती लटों से स्त्री की अनुपस्थिति को कैसे भर सकता है। मैंने उनकी झलक दो-तीन बार ही देखी। न मैं दांते था न वो बीत्रिस पर पंतजी में एक लुभाने वाली झलक थी। हम कभी विश्वविद्यालय से वापसी पर उसी तरफ़ से आते थे। उस इलाक़े में पेड़ थे, ठंडक थी, एकांत था, कभी-कभी दिखते कुछ लोग

थे और कुछ शान भी थी। हालाँकि हमारे पास सायकिलें होती थीं पर वह ज़माना ऐसा था कि सायकिल की वजह से शान पर बट्टा नहीं लगता था। हम पंतजी के घर के सामने देर-देर तक खड़े रहते थे कि काश कभी तो साधारण तरह से वे दरवाज़ा खोल कर बाहर आ जाएँ और दर्शन दे दें। उसी तरह जिस तरह सुरैया के मैरीन ड्राइव वाले फ़्लैट के सामने लोग उसकी एक झलक की प्रतीक्षा करते थे या आज जुहू विले पार्ले स्कीम में अमिताभ बच्चन के बँगले के सामने लोग उनका इंतज़ार करते हैं लेकिन पंतजी लगता था कि अंदर कविता ही कविता लिख रहे हैं। उनका व्यक्तित्व ही ऐसा था कि वे कविता लिखने के अलावा कुछ नहीं कर सकते थे। पता नहीं। पता नहीं हमारे भीतर कैसा कौतूहल था, कैसा विस्मय। इस तरह भरी जवानी में हमने अपने को तबाह कर लिया। एक बार प्रभात ने बताया कि पंतजी 'लोक भारती' में आ रहे हैं। सूचना अफ़वाह की तरह फैल गई। यह भी बताया गया कि वह ग्यारह बज कर चालीस मिनट पर अपनी किसी कृति के अनुबंध पर हस्ताक्षर करेंगे। हम दौड़ते-पड़ते कुछ युवजन सायकिल पर डबल सवारी महात्मा गाँधी मार्ग पर दरबारी बिल्डिंग की तरफ़ भागे जहाँ 'लोक भारती' का शो रूम था। ख़ास दिन ख़ास बजे पंतजी आए। तब मारुति का चलन नहीं था। हिलमेन, आस्टिन, मारिस, हिंदुस्तान चलती थी। पंतजी ज्योतिष के जानकार थे, गणना कर के ही काम करते थे अपने प्रकाशन का। जिस तरह फ़िल्मों में मुहूर्त होता है उसी तरह शायद तय करते थे। पंतजी का समय शुभ, पक्का और सफल था। इसीलिए वे प्रगतिशीलों के प्रिय भी बने, प्रयोगवादियों के भी। उस समय तो उन्होंने निराला को छका ही दिया था। ज्योतिष का जलवा था और अब कुछ सूत्र यह पकड़ में आता है कि इसी इलाहाबाद के और उसी पहाड़ के मुरली मनोहर जोशीजी हैं जो आज तक ज्योतिष के विकास के लिए डटे हुए हैं। अफ़सोस हम जब 'लोक भारती' पहुँचे तब तक पंतजी निकल चुके थे। अबसर्डिटी न केवल शारीरिक दिनचर्या में थी बल्कि उसके सूत्र हमारे रचनात्मक उपक्रम का भी स्पर्श करने लगे थे। एक मसख़री मेरे व्यवहार में उपज रही थी और इलाहाबाद के नितांत सुसंस्कृत संसार के हमें चाहने वाले लोग भी यह समझ रहे थे कि ये नवोदित शहर के आधुनिक उजड्ड हैं।

मैं नहीं समझता कि उस ज़माने में इलाहाबाद के अलावा किसी दूसरे शहर की पहचान में लेखकों का ऊपर जैसा नक्शा बनाया जा सकता था। शायद कलकत्ते की याद आए थोड़ी-बहुत बस। पूरब का पेरिस भले अब बियाबान हो गया हो और पूरब के आक्सफ़ोर्ड की आत्मा को भले ही खुर्राट अध्यापक रौंद रहे हों लेकिन पश्चिम के पेरिस और पश्चिम के आक्सफोर्ड भी अब धुँधले पड़ गए हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के चारों तरफ़ के इलाक़ों ऐलनगंज, बेलीरोड, बैंक रोड, चौथम लाइंस, चर्च लेन, टैगोर टाउन की पुरानी काली पड़ रही भव्यताओं का सौदा बिल्डर्स नहीं कर सके हैं। बिल्डर्स इन इलाक़ों की इमारतों को उस तरह धीरज के साथ देख रहे हैं जैसे बगुले मछली के लिए लंबा इंतज़ार करते हैं। 1957 में जब हम विश्वविद्यालय में घुसे तो दिल काँपता था। लगता था लोग हमें एक देहाती के रूप में देख रहे हैं। किसी ने कहा था कि यह महान गणितज्ञ प्यारेलाल की कोठी है, यह मकान रसायन शास्त्री सत्यप्रकाश का है और इसमें इतिहासकार ईश्वरी प्रसाद रहते हैं। धीरेंद्र वर्मा सीनेट हाल के सामने ऐलनगंज घुसने वाली सड़क के नुक्कड़ पर रहते थे और रामकुमार वर्मा के बँगले का नाम साकेत था। उनकी रेशमी टाई आज भी आँखों में सपने की तरह उड़ रही है। आज इन मकानों के खपरे टूट गए हैं, नल टूट गए हैं, पानी फैल रहा है, हेज कोई काटता नहीं, फाटक पर कुत्ते पेशाब कर रहे हैं और बग़ीचे में नेवले अपने बच्चों की फ़ौज लेकर दौड़ रहे हैं। क्षरण को रोक भी नहीं सकते और चीज़ों को बदल भी नहीं सकते। ऐश्वर्य की मीनारें गिर गई हैं। इन घरों के बच्चे अब दिल्ली, अहमदाबाद कलकत्ता और मुंबई में खुश होकर भी अपने पुश्तैनी घर में चूना-सफ़ेदी करा सकने और लीज़ रिन्यू कराने में असफल हैं। यह इलाहाबाद की अपनी खुद की बनाई क़िलेबंदी है कि लाज बाहर न जाने पाए। यहाँ एक ख़ास तरह की अंग्रेज़ियत का चूल्हा जल-बुझ रहा है। न अपनी जलेबी बचाएँगे न डोमीनियो पीज़ा आने देंगे। मर जाएँगे पर टस-से-मस नहीं होंगे। क्षरण लगातार हो रहा है। कभी चूना गिरता है कभी दीवार। बँगलों में पान की गुमटी आ गई है। दर्ज़ी और धोबी बैठ गए हैं बीस पचास का किराया देते हुए। इलाहाबाद हर पल पूरब से और पूरब तरफ़ खिसक रहा है। पश्चिम अगर है तो आकाश पर एक टुकड़ा बादल के बराबर बस। देश की सबसे बड़ी और सबसे शानदार सिविल लाइंस में जगह-जगह गाँव-क़स्बा घुस गया है और हर मकान के कोने अतरों से काला कोट पहने वकील निकलते दिखाई देते हैं।

14 अगस्त 1960 को मैंने लंबे समय के लिए इलाहाबाद छोड़ा था। उसके बाद यहाँ असंख्य बार आया गया। बार-बार वहाँ जाता हूँ। उसे कभी छूकर कभी उसमें आधा-अधूरा विलीन होकर वापस आ जाता हूँ। पिछली बार जब गया तो 41 साल बिछुड़े हुए हो गए थे। वहाँ आज भी लोग अपनी बोली बोल रहे थे। यह बोली किस तरह बची है समझ में नहीं आता। दारागंज और लोकनाथ में तो बोल ही रहे थे अल्फ्रेड पार्क में भी सुबह-सुबह बोल रहे थे। अब एक जीवन में सारा कुछ तो जान नहीं लिया जा सकता किसी शहर का। मरते-मरते भी कुछ बचा ही रह जाता है। कभी-कभी तो यह भी होता है मर भी वे ही जाते हैं जो सब-कुछ बचा लेना चाहते हैं। मैंने कई बार अपने भीतर इलाहाबाद को कुचलना चाहा क्योंकि जब आप किसी दूसरे शहर में बसने जाते हैं तो वहाँ के लोग कभी यह पसंद नहीं करते कि आप दोहरी नागरिकता चलाते रहें। पत्नी कोई हो और प्रेमिका कोई और, यह मंद शहरों में स्वीकृत नहीं है। यहाँ पत्नी को ही प्रेम करो और प्रेमिका को ही पत्नी बनाओ वाला नियम है। इसलिए मैं जबलपुर में अब कभी इलाहाबाद का नाम नहीं लेता। अंततः भारती भी बंबई के बाद इलाहाबाद कभी लौट कर नहीं आए। हरिप्रसाद चौरसिया कुछ दिन तो अपनी मलाई की दुकान वाले दोस्त विश्वंभर के पास जाते रहे पर एक ऐसा दिन आया जब वे भी अलविदा हो गए इलाहाबाद से। ओंकारनाथ, अजित कुमार सब बैरंग लौट गए। जिस तरह दो स्त्रियाँ बुलंदी के साथ आपके जीवन में बराबर कभी नहीं रह सकतीं उसी तरह एक-साथ दो शहरों को प्यार नहीं किया जा सकता। अपवादों को छोड़ दिया जाए तो दो भाषाओं में और कभी इस शहर और कभी उस शहर में लिखना भी प्रायः असंभव है। अंततः जिसने भी इलाहाबाद छोड़ा उसको इलाहाबाद ने भी छोड़ दिया।

अब बिलकुल सही बँटवारा तो हो नहीं सकता लेकिन अगर इलाहाबाद को दो टुकड़ों में बीच से फाड़ दें तो महात्मा गाँधी मार्ग बचेगा या सुप्रसिद्ध ग्रांट ट्रंक रोड। इसके एक पहलू में सुंदर और लकदक इलाहाबाद है और दूसरी तरफ़ ग़रीब भीड़ वाला पुराना इलाहाबाद। जिस तरह गंगा-यमुना के रंग अलग अलग हैं उसी तरह इन दो हिस्सों की अलग-अलग दुनिया है। एक तरफ़ पढ़-लिख कर कुछ कमा-धमा कर निकल गए भद्रजनों की दुनिया है, दूसरी तरफ़ पुराने बाशिंदों, क्लर्कों, कारीगरों की सघन बस्तियाँ। इलाहाबाद के तीन तरफ़ नदी है एक तरफ़ दिल्ली तक सड़क ही सड़क चले जाइए। तीन तरफ़ पुल हैं अंग्रेज़ों के बनाए हुए। नदियाँ जब निर्जल हो जाएँगी तो ये पुल

और अधिक काम के होंगे। ऋतुराज की कविता 'पुल पर पानी' का और नरेश सक्सेना की कविता 'पुल पार करने से नदी पार नहीं होती' का मतलब तब क्या होगा जब हमारी संतानें पुल से नीचे देखेंगी। उनके हाथ में माताओं के दिए हुए सिक्के होंगे पर नीचे पानी नहीं सैकत राशि होगी और धड़धड़ाती हुई रेलगाड़ी गुज़र जाएगी। शशांक ने अपनी एक कहानी में आने वाले समय को अधिक साफ़ देख लिया है। वह कहानी एक सूखी नदी के ऊपर चल रही है।

निराला से शशांक तक बीते 50 साल इसी रेतीली दुनिया के बढ़ने की कहानी है। शायद मैं इस सृष्टि के प्रति एक शंकालु व्यक्ति हो गया हूँ लेकिन उम्मीद करने और निराश होने के जो अनुभव हैं, जो परिणाम हैं, वे बिलकुल एक जैसे हैं। अभी-अभी मैंने इलाहाबाद को बीच से विभक्त किया था। एक तरफ़ बसाहट में नयापन है। एक समय के सांसद अमिताभ बच्चन के ज़माने की बनाई पक्की पगडंडियाँ हैं। पश्चिमी इलाहाबाद की तरफ़ अमिताभ ने भी ध्यान नहीं दिया। उसे भी अपने मुहल्ले की स्मृतियाँ कुछ अधिक सताती रही होंगी। इधर ग़रीबी है इसलिए सराय ही सराय है। गलियाँ दर गलियाँ हैं। हिंदू मोहल्लों में भी गलियाँ और मोहाल हैं। मुसलमान बस्तियाँ भी गलियों की भूलभुलैया में खोई हैं। सराय आकिल, सुलेम सराय, गढ़ी सराय से लेकर शहर के हृदय स्थलों तक सरायों की क़तार है। इलाहाबाद एक ऐसा शहर है जिसमें शेरशाह, अकबर, अशोक और अंग्रेज़ शासक सभी के हाथ लगे हैं। इस तरफ़ मुसाफ़िर और यात्रियों का संसार है। कुंभ मेला हो या मुहर्रम के जुलूस सबके लिए यह समान क्षेत्र है। गलियों के मुहानों पर रात-दिन चलते ऐसे चायघर हैं जो मुझे ताशकंद और तजाकिस्तान में हर जगह यहाँ तक कि एयरपोर्ट पर भी मिले थे। आटे की बिस्किट मिलती है और चाय के लिए आग हमेशा जलती रहती है। यहाँ खुले पत्थरों पर और पिंजरों में पक्षी दाना खा रहे हैं, फुदक रहे हैं। बंद दुकानों के बाहर देर शाम तक पतंग, डोर और मंझा बिक रहा है, लटाई भी बिक रही है। सन् तीस-चालीस के ज़माने के तवे लगातार बजते रहते हैं। कबाब के सींके लगे हैं। घोड़े पक्की चरहियों में पानी पी रहे हैं। इक्के मनौरी से संगम तक दौड़ रहे हैं। रूई धुनी जा रही है। रंगरेज़ हंडों में रंग उबाल रहे हैं। रंगकर कपड़े सुखा रहे हैं। इत्र फुलेल तांत की थैलियों में बिक रहा है। सब्ज़ी और फलों की मंडी है। तरबूज़ों को स्टूल बना कर दुकानदार बैठे-बैठे पंखा झल रहे हैं। ये लोग अपनी ग्रांट ट्रंक रोड छोड़ कर सिविल लाइंस की तरफ़ कभी नहीं जाते। इनको किसी और दुनिया का अता-पता नहीं है। ये ऊबते नहीं। इस क्षेत्र में लगता है एक जीवंत तमाशा निरंतर चलता रहता है। जिस तरह से मेलों में लोग मंद मंथर क़दमताल करते हैं कुछ वैसी चाल यहाँ सदा सर्वदा होती है। जिस तरह पश्चिम के महान उपन्यासों के अंत में मरहम लगाती एक ईसाइयत छिपी रहती है यहाँ तक कि कामू के उपन्यासों में भी, उसी तरह शहर कोतवाली के पास भीड़ में दबा छुपा एक धर्म प्रचारक सुबह-शाम भोंपू से मसीही वंदना सुनाता रहता है और दुखी दलितों के लिए उम्मीदें बिखेरता रहता है। वहाँ एक बंद चर्च है। 20-25 साल तक यह भोंपू बजा और अब भोंपू बजाने वाला वह शख़्स गुम हो गया। ये सब लोग धीरज दिल हैं, कभी थकते नहीं। इलाहाबाद के हर तरफ़ ध्यानाकर्षित करते चर्च हैं। सफ़ेद चर्च, लाल चर्च, पीले चर्च और पत्थर गिरजा। ये देश के सर्वोत्तम, विशाल, सुंदर और मनहरन चर्चों में थे। अब ये केवल इमारत मात्र रह गए हैं। इमारतों का कंकाल। इनमें साल में एक बार या एक भी बार घंटा नहीं बजता। ये ख़ामोश हो चुके हैं। शायद इनको अब लोग देख भी नहीं रहे हैं और लगता है ये चर्च नहीं चर्च का ढाँचा हैं और अब ढाँचों को क्रूर और हिंसक लोग ढहा देंगे लेकिन दुनिया में इन पूजा-स्थलों के विनाश के बावजूद चर्च की ताक़त बढ़ गई है। अब राजनैतिक स्पर्धाओं में धर्म की विकृत शक्तियों का साम्राज्य है। जगह-जगह धर्म स्थल डेज़र्ट हो रहे हैं पर उनकी राजनैतिक ताक़त बढ़ रही है।

इलाहाबाद के एक तरफ़ बदहाली-कंगाली और आबादी है। फ़र्क बिल्कुल सीधा खिंचा हुआ है। एक तरफ़ स्टेशन है, तारघर है, क्लब हैं, रायल और बार्नेट होटल हैं, विश्वविद्यालय और हाईकोर्ट हैं। वित्त, पुलिस, शिक्षा, पब्लिक सर्विस के शानदार दफ़्तर हैं। रेडियो, दूरदर्शन वकील, डाक्टर, व्यापारी अपनी कोठियों में बसे हुए हैं। फ़ौज के मेस हैं, पार्क हैं। दूसरी तरफ़ यह सब कुछ नदारद है। मिर्च-मसाला, अनाज, बर्तन, सब्ज़ी की दुकानें। शहर की रसोई अलग है और भोजन कक्ष तथा ड्राइंग रूम अलग। मैं सोचता था जो भी हो, इलाहाबाद बचा रहेगा। सारी दुनिया जैसी वह नहीं हो पाएगा लेकिन इलाहाबाद बचता कैसे। जहाँ सदियों पहले सरस्वती लुप्त हो चुकी हो वहाँ यह संकेत पर्याप्त था कि इलाहाबाद भी नहीं बचेगा। मिथक के अनुसार वह वट वृक्ष है क़िले के भीतर जिसकी फुनगी जल प्रलय के बावजूद बचनी थी लेकिन यह वृक्ष भी नकली निकला शायद। अब वह क्या बचाएगा डूबते को। चीज़ें एक एक करके कराहती हुई ग़ायब हो रही हैं और लोग जीवन से अधिक चमत्कार पर भरोसा कर रहे हैं।

इलाहाबाद शांत, संतुष्ट और बेपरवाह था। यहाँ बड़ी माँग नहीं उठती थी। यहाँ चवन्नी जेब में रहे तो कॉफ़ी हाउस की लंबी शाम निकल जाती थी और न भी हो तो कॉफ़ी हाउस में पैसा माँगा नहीं जाता था। लोग पैसा कभी-न-कभी दे देते थे। प्रबंधक, बैरा भी इस बात के लिए निश्चिंत थे। सातवें दशक तक बिना करेन्सी के भी दिन मिलजुल कर निकल जाते थे। मुझे ख़्याल है कि मेरे पास सायकिल नहीं थी और तीन साल मैं युनिवर्सिटी अबाध आता-जाता रहा। कोई ग़म नहीं था।

यहाँ कविता पर लोगों का गहरा भरोसा था। लक्ष्मीकांत वर्मा ने कविता पर मूलभूत किताब की रचना की। उससे पता नहीं कितनी और किताबें निकलीं। मुझे रघुवंशजी, रामस्वरूप चतुर्वेदी, भारती और जगदीश गुप्त जैसे नई कविता के महारथियों ने पढ़ाया पर मैं उनकी राह पर नहीं चल सका। वहाँ शिक्षा से गुलामी कभी पैदा नहीं हुई। यहाँ मौत के मुँह में गंगा जल के बाद सर्वाधिक उम्मीद कविता पर ही लोगों ने की। घर-बार की चिंता सताती नहीं थी लोगों को। शास्त्रार्थ कभी टूटा नहीं। नव्यतम रूपों में जारी रहा। देश के सर्वोत्तम दिमाग़ों और रचनाकारों का आगमन यहाँ अबाध था। जिस शहर में राजापुर के विशाल क़ब्रिस्तान में शोक पंक्तियों को पढ़ते हुए या गंगातट पर चिताओं के जलते हुए रत्तीभर भी उद्विग्नता आगामी जीवन को लेकर नहीं हुई, सवाल यह है कि उस इलाहाबाद में भगदड़ कैसे मच गई? वहाँ कोई अब रचने के लिए नहीं आ रहा है। आगमन यहाँ बंद है। दुनिया ने अपने भावी को बचाने के लिए जिन-जिन मार्गों को चुना अब इलाहाबाद भी उन सबको स्वीकार कर रहा है। गर्वीले लोगों की गर्दन पर पक्षाघात हो गया है। अब केवल जनसंख्या है और हिंसा। कालकूट मचा हुआ है। फ़िराक़ साहब की शायरी का रोमांटिक धुआँ-धुआँ हो गया है। जनसंख्या और हिंसा इस शहर को सपाट बनाते हैं। यहाँ कविता बची अवश्य है पर उसके रचनाकार हिंस्र हैं। कविता का शास्त्र कवियों से छिन गया है। जिन इलाहाबाद की सड़कों पर मरा कुत्ता एक दुर्लभ दृश्य था वहाँ रोज़ लाशें पड़ रही हैं। मुझे पता नहीं था कि मेरी 'अनुभव' कहानी की एक गप्प आज इतना सच हो जाएगी। समय बीतता रहा, उलट-पुलट होता रहा तमाम दुनिया की तरह लेकिन शहर हिंसा को वशीभूत नहीं कर सका। उन मार्गों पर आपका सांस्कृतिक प्रदर्शन छीन लिया गया है। अब

पाकड़, इमली, बबूल और नीम के विशाल वृक्षों के नीचे से निकलती छायादार सड़कें लहू से लथपथ हैं। असंख्य लोगों ने सबसे सस्ते सुलभ अपने चाकू को चमकाया हुआ है। सवाल है कि क्या कभी संसार के कवियों, चित्रकारों और विचारकों ने हिंसा की ज़बरदस्त तरफ़दारी की थी और अगर की थी तो अब उनके हाथ से यह तरफ़दारी भी छिन चुकी है। कविता, अकविता, प्रगतिशील कविता के ज़बरदस्त विमर्श इस शहर में तीस साल तक होते रहे। 'माध्यम', 'क ख ग' और 'निकष' जैसी पत्रिकाएँ निकलती रहीं। कविता दर-दर और क़दम-क़दम लिखी गई। इतना प्यार, इतनी कविता और इतना दीवानापन हुआ लेकिन इलाहाबाद बचा नहीं। देखिए न, अब सब ओर दीवाने मारे जा रहे हैं।

महान चिंतक बेंजामिन जानते थे कि संस्कृति का सबसे रोचक खेल आधुनिक महानगरों में खेला जा रहा है। उन्होंने लिखा : "कोई चेहरा इतना अतियथार्थवादी नहीं है, जितना कि एक शहर का चेहरा" यहाँ इच्छाओं और लालसाओं की एक भयावह मरीचिका रची गई है।

मैं इलाहाबाद से भागा। बार-बार दिल्ली, बंबई, कलकत्ते गया। मुझे वाल्टर बेंजामिन के बावजूद आज भी महानगरों से उम्मीद बनी हुई है क्योंकि इलाहाबाद से उम्मीद टूट गई है। वह मरियल बेचारा न गाँव है न क़स्बा न शहर। उसकी श्रेणी ही पिघल गई है, भंग हो गई है। इलाहाबाद अपने पिछले रूप में न वापस आ सकता है और न नया रास्ता फोड़ सकता है। ❑

शेष होते हुए

पृष्ठ 15 का शेष...

की लड़की से इश्क फ़रमाता है और घर में दार्शनिकता छांटता है। मेरे पास रुपए-बुपए नहीं है। उसी लड़की से क्यों नहीं लेता? माँ अपना-सा मुँह लेकर वापस आ गई। मझला सोचने लगा कि उसने नाहक कहा। शायद लोगों को अपने संसार पर इतना अधिक ख़तरा नज़र आने लगा है। ग्लानि में डूबा रहा मझला।

हर बार की तरह इस दफ़े भी मझले की छुट्टियाँ बड़ी कठिनाई से रेंगी हैं। अम्मा को दिन की तमाम खलबलियों के चलते मझले से फिर बात का अवसर नहीं मिला। मझले से उसे उम्मीद रहती है। शायद वह समझती है कि मझले के पास घर की स्थिति को बदल देने वाला कोई नुस्ख़ा है। माँ अपनी ग़लतफ़हमियों से बदनसीब और दयनीय हो गई है। गिरती हुई दीवाल को मझला या कोई भी अपनी पीठ से रोकने की चेष्टा करेगा तो उसकी पीठ खूनाखच्च हो जाएगी। हर चीज़ के साथ एक उम्र भी है।

मझला बुरी तरह से आतुर हो उठा है कि छुट्टी समाप्त न होने पर भी वह एकदम से वापस चला जाए। इधर वह यूँ ही आकस्मिक ढंग से आने-जाने लगा है। वह आज ही चला जाएगा। छुट्टियों का मोह बड़ा महँगा है। घर के जीवन में विवशता भरी है। मनहूसी ने उसे आतंक में भर लिया है। यहाँ कोई संघर्ष नहीं किया जा सकता, सिर्फ़, ध्वंस को निज के टूटने तक किसी तरह सहा जा सकता है। वह ऊब गया। जीवन में व्यर्थता का प्रतिशत ऊपर हो रहा है।

आज मझला दिनभर घर से बाहर रहा। अपराह्न में लौटकर आया। खाना-पीना कुछ पता नहीं। जल्दी-जल्दी अपना बिखरा सामान सहेजने लगता है। उसमें बहुत-कुछ जल्दबाज़ी में छुट ही जाएगा। मझले को छूटने का कोई विचार नहीं होता।

कमीज़ें उतार लेने के बाद खूंटियाँ नंगी हो गई हैं। मझले ने सिगरेट का पैकेट बचाते हुए टावल के नीचे छिपा दिया है।

माँ आश्चर्यचकित पूछती है, "क्या बात है मझले? अभी तो तुम्हारी छुट्टियाँ परसों तक हैं।"

मझला उसकी तरफ़ देखे बिना थोड़ी देर टालमटोल करने के बाद शाम की गाड़ी से जाने की बात कहता है। किसी ज़रूरी काम से पहले पहुँचने की झूठी सफ़ाई भी उसने दे दी। आग्रह, अनुरोध या पुनर्विचार की अब कोई गुँजाइश नहीं है। माँ मुँह ताकने लगती है। मझला मुँह बचाने लगता है।

पाँच बजते तक घर के लोग इधर-उधर मँडराने लगेंगे। पिता दफ़्तर से आकर चकित से तैयार सूटकेस की तरफ़ देखेंगे और समझ जाएँगे। फिर उनमें भावुकता का अस्थायी विचलन बढ़ने लगेगा। टीनू छत से उतरकर आ जाएगा और तारा पार्टीशन से बाहर। भाभी भैया को पीछे बुला लाएँगी और वे दोनों शांत मझले के चले जाने की प्रतीक्षा में खड़े रहेंगे। मझले को ज़ाहिर होगा कि ये सब लोग किसी एक स्थान से नहीं, अलग-अलग जगहों से आए हैं। उसे घर के लोग एक स्थान पर उसी दिन एकत्र नज़र आते हैं जब वह वापस नौकरी पर लौटता होता है। घर के लोगों को इकट्ठे होने का दृश्य इसीलिए मझले को बड़ा अटपटा और झूठा-सा लगता है।

मझले की छुट्टियाँ अगर बहुत लंबी हो जाएँ तो भी घर में ऐसा अवसर शायद आ सके जब सब लोग एक स्थान पर एकत्र हों। घर में सात लोग हैं और सात बार टेबल पर खाना रखा जाता है। मझला भी इस व्यवस्था में आसानी से शामिल हो जाता है, क्योंकि किसी को भी एक-दूसरे का सामना करना सरल नहीं लगता। कोई गंभीर दुर्घटना ही शायद लोगों को एक स्थान पर एकत्र कर सकती है।

रिक्शा आ जाने पर माँ कुछ सुस्त है। मझले ने इतना भी समय नहीं दिया कि रास्ते के लिए वह पूड़ी-तरकारी ही तैयार कर देती। 'अब क्या होगा' सरीखी असहायता उसे डूबोने लगी है। लड़के का कठोर लगने वाला व्यवहार पिता को पराजित करता है। इससे उनका शरीर कुछ कमज़ोर होता है।

मझले ने रिक्शे पर अपना मामूली-सा लगने वाला सामान रख लिया है। माँ तारा को 'अब कब आओगे' पूछने के लिए ढकेल सी रही है। पता नहीं क्यों तारा के मुँह से कुछ निकल नहीं पा रहा है। शायद वह प्रयत्न कर रही है। रिक्शा सबकी दृष्टि से ओझल हो गया।

घर अंदर-अंदर खंडित हो रहा है। मझले के पिता-माँ को कुछ समझ नहीं आ रहा होगा। उनकी आँखों के समाने इतिहास की अनिच्छुक स्थितियाँ बेरहमी से गुज़र रही हैं। अपने खचाखच कंपार्टमेंट में मझला भी समय की क्रूरता और निरंकुशता को तीव्रता से महसूस कर रहा है। अगली बार जब मझला घर आएगा तब काल उसके सामने कुछ और बिगड़े हुए तथा कठोर दृश्य उपस्थित करेगा क्योंकि अभी लोग पूरी तरह टूटे और बिखरे नहीं हैं। अभी संक्रान्ति अपने अंजाम की तरफ़ केवल शुरू हुई है। ❑

निर्मल आनंद की अनुभूति का पर्याय है बाल साहित्य

*(**प्रकाश मनु** से **अशोक बैरागी** की बातचीत)*

प्रकाश मनु प्रतिष्ठित बाल साहित्यकार हैं, जिन्होंने बच्चों के लिए खूब लिखा है। बाल साहित्य की प्राय: हर विधा में लिखा है। बाल पाठकों के लिए उनकी सौ से अधिक पुस्तकें हैं। इनमें बाल उपन्यास 'एक था ठुनठुनिया' को साहित्य अकादमी के पहले बाल साहित्य पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इसके अलावा 'हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास' उनका एक मानक ग्रंथ है, जिसे लिखने में उन्होंने अथक श्रम किया है।

प्रकाश मनु का मानना है कि बाल साहित्य अनेक कठिनाइयों और उपेक्षाओं के बावजूद भी निरंतर प्रगति के नए सोपान गढ़ रहा है। इसकी नींव को दिनकर, सुभद्राकुमारी चौहान, अमृतलाल नागर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, मोहन राकेश और कमलेश्वर जैसे दिग्गज लेखकों ने सींचा है। वर्तमान में इस परंपरा को एक साथ तीन पीढ़ियों के समर्थ साहित्यकार निरंतर ऊँचाइयों पर ले जा रहे हैं। प्रस्तुत है प्रकाश मनु से बातचीत के प्रमुख अंश–



प्रश्न : बाल सहित्य का इतिहास लिखने की प्रेरणा आपको किन परिस्थितियों में मिली?

उत्तर : बहुत-सी बातें हैं। एक तो मैं बाल पत्रिका 'नंदन' के संपादन से जुड़ा था। तो जैसे ही अपने काम से फुरसत मिलती, मैं पत्रिका के पुराने अंक खोलकर पढ़ने लगता। देखकर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि हिन्दी के बड़े-से-बड़े, दिग्गज साहित्यकारों ने बच्चों के लिए लिखा है। इनमें अमृतलाल नागर सरीखे मूर्धन्य साहित्यकार थे और मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, मनोहर श्याम जोशी, हरिशंकर परसाई, लक्ष्मीनारायण लाल सरीखे कथाकार थे। भवानी भाई, प्रभाकर माचवे और रघुवीर सहाय सरीखे बड़े कवि थे। और भी बड़े कवियों, गीतकारों और कथाकारों की एक से एक दमदार रचनाएँ इसमें शामिल थीं। मुझे लगा, यह बात लोगों को बतानी चाहिए कि इतने बड़े-बड़े साहित्यकारों ने भी बाल साहित्य लिखा है। यह वैसी उपेक्षा की चीज़ नहीं है, जैसा दुर्भाग्य से समझ लिया गया है। तो बाल साहित्य पर लेख लिखने का सिलसिला शुरू हुआ, जिनमें मैं दमदार रचनाओं को उद्धृत करके बताता कि बाल साहित्य में इतना महत्वपूर्ण रचा गया है। आगे चलकर यही लेख बाल साहित्य का इतिहास लिखने की भूमिका बने।

यों मुझे इतिहास लिखने के लिए प्रेरित करने का काम 'नंदन' पत्रिका के यशस्वी संपादक जयप्रकाश भारती ने भी किया। वे मुझसे बराबर कहते थे, "बाल साहित्य में अच्छे संदर्भ ग्रंथ नहीं हैं और जिस साहित्य में अच्छे संदर्भ ग्रंथ न हों, उसे सम्मान नहीं मिलता। बच्चों के लिए कविता-कहानी तो हर कोई लिख लेता है, पर बाल साहित्य में ऐसे लोग नहीं हैं, जो अच्छे और प्रामाणिक संदर्भ ग्रंथ तैयार कर सकें। इसमें बहुत मेहनत लगती है, इसलिए कोई आगे नहीं आता...!" सुनकर मुझे लगता कि जो काम कोई नहीं कर रहा, इसे खुद मैं आगे आकर क्यों न करूँ? सब चाहते थे कि हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास लिखा जाए, पर सब एक-दूसरे से अपेक्षा कर रहे थे कि वह यह काम करे। पर मैंने किसी और से नहीं, अपने-आप से अपेक्षा की कि मैं यह काम करूँ। तो पहले 'हिन्दी बाल कविता का इतिहास' लिखा गया, जो सन् 2003 में छपा था। उसके पंद्रह वर्षों बाद 'हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास' सामने आया।

आपसे पूर्व भी ऐसे प्रयास किए गए हैं। उनके और आपके इस इतिहास ग्रंथ में क्या अंतर है?

हिन्दी बाल साहित्य का यह पहला इतिहास है। इससे पहले हिन्दी बाल कविता का इतिहास तो लिखा गया, पर समूचे बाल साहित्य का इतिहास लिखने की कोशिश किसी ने नहीं की। निरंकारदेव सेवक ने 'हिन्दी बालगीत साहित्य : इतिहास और समीक्षा' पुस्तक लिखी, जिसे हिन्दी बाल कविता का पहला इतिहास कह सकते हैं। बेशक सेवकजी का काम ऐतिहासिक महत्व का था और बहुत बड़ा था पर मैं उससे असंतुष्ट था। इसलिए कि उसमें बाल साहित्य के बड़े और प्रतिनिधि

***संपर्क : प्रकाश मनु** : 545 सेक्टर-29, फ़रीदाबाद121008 (हरियाणा) मो. 09810602327*

***अशोक बैरागी** : गाँव डुराना, तहसील गोहाना, ज़िला सोनीपत (हरियाणा) मो. 9466549394*

हस्ताक्षरों को अलगाकर, उन पर विशेष फ़ोकस करने की ज़रूरत नहीं समझी गई। उनका ढंग यह था कि चाहे कोई बड़ा कवि हो या एकदम गौण कवि, उसका एक-दो पैरे में परिचय देकर उसकी एक कविता उद्धृत कर दी गई। यह तरीका मुझे ठीक नहीं लगा। इसलिए कि इतिहास कोई ऐसा बही खाता नहीं है, जिसमें छोटे-बड़े सभी का एक समान विवरण दर्ज कर दिया जाए। इतिहासकार को किसी कालखंड के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि रचनाकारों और उनके महत्व को समझकर उन्हें केंद्र में रखकर चर्चा करनी होती है। जो गौण रचनाकार हैं और जिन्होंने कभी-कभार भूले-भटके कोई बाल कविता लिख दी, उन पर आप चार पंक्ति भी लिख दें तो बहुत है और कुछ का तो शायद नामोल्लेख ही काफ़ी है। इसी तरह जिन रचनाओं का साहित्यिक मूल्य अधिक नहीं है, उन्हें महत्व देना बेकार है, क्योंकि इससे तो साहित्य में एक भ्रांति ही पैदा होती है। इतिहास पढ़ने पर यह बात पाठक के मन में साफ़-साफ़ दर्ज होनी चाहिए कि किसी दौर के सर्वाधिक सशक्त और प्रतिनिधि हस्ताक्षर कौन-से हैं, नहीं तो इतिहास लिखने का लाभ ही क्या? छायावाद के दौर में कितने कवि लिख रहे थे, पर क्या उन सभी का महत्व निराला, पंत, प्रसाद और महादेवी जैसा था? अगर शुक्लजी सबके बारे में एक जैसा ही लिखते और निराला, पंत, प्रसाद आदि का भी वैसा ही साधारण ढंग से ज़िक्र करते, तो क्या यह इतिहास बन पाता? बहरहाल सेवकजी का घनघोर प्रशंसक होते हुए भी, उनके इतिहास से जो गहरी अतृप्ति मुझे महसूस हुई, उसने मुझसे हिन्दी बाल कविता का इतिहास लिखवा लिया, जो एक अर्थ में कहीं अधिक व्यवस्थित इतिहास है और एक ऐतिहासिक अनुशासन के तहत लिखा गया है। साहित्य में यही दो इतिहास लिखे गए। इनके बाद मेरा इतिहास-ग्रंथ 'हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास' आया, जिसे लिखने में मैंने बीस वर्ष लगा दिए और अथक श्रम हुआ। इसके अलावा तो हिन्दी बाल साहित्य में कोई इतिहास लिखा नहीं गया। हाँ, अलग-अलग विधाओं पर कुछ समीक्षात्मक काम ज़रूर हुआ पर कोई सुव्यवस्थित इतिहास तो किसी ने नहीं लिखा।

आपने बच्चों के लिए बहुत लिखा है। हिन्दी बाल साहित्य लेखन परंपरा में आप अपने-आप को कहाँ पाते हैं?

इसका उत्तर तो मुझे नहीं, औरों को देना चाहिए। मैं तो सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि मुझसे पहले बहुत लोग थे, जो लिख रहे थे। बहुत दमदार लेखन था निरंकारदेव सेवक, श्रीप्रसाद, कन्हैयालाल मत्त, दामोदर अग्रवाल, शेरजंग गर्ग, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रेखा जैन, मस्तराम कपूर, जयप्रकाश भारती, हरिकृष्ण देवसरे, देवेंद्रकुमार...! मैंने सबको पढ़ा, सभी से कुछ न कुछ सीखा। बाल कविताओं से मेरे लेखन की शुरुआत हुई। फिर बाल कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, जीवनियाँ और बच्चों के लिए ज्ञान-विज्ञान साहित्य लिखा। बाल साहित्य की प्रायः सभी विधाओं में मैंने लिखा। बच्चों के लिए सौ से अधिक पुस्तकें हैं मेरी। सन् 2010 में साहित्य अकादेमी का पहला ही बाल साहित्य पुरस्कार मेरे बाल उपन्यास 'एक था ठुनठुनिया' को दिया गया।...हालाँकि बाल साहित्य की समूची लेखन परंपरा में मैं कहाँ हूँ, मुझमें कुछ विशिष्ट है या नहीं है, इसका मूल्यांकन तो औरों को करना चाहिए। मैं तो बस यही कह सकता हूँ कि जब मैं बच्चों के लिए लिखता हूँ, तो अंदर से मेरा मन भीगता है। मेरे लिए वे सर्वाधिक सुख और आनंद के क्षण होते हैं, जिनसे मेरा जी उमगता है।

इतिहास लेखन के इस महायज्ञ में सुनीताजी हमेशा आपके साथ रही हैं। इसके अलावा और कौन-कौन लोग इस महायज्ञ में आपके सहयोगी रहे हैं?

सबसे अधिक तो सुनीताजी ने ही साथ दिया। सन् 2005 में मैंने इस इतिहास ग्रंथ का पहला प्रारूप बना लिया था, जो मेरे हाथ से लिखे करीब छह सौ पृष्ठों का था। मेरी लिखाई अच्छी नहीं है, इसलिए वह सारा बोल-बोलकर सुनीताजी को लिखवाया। फिर उसमें मैंने काफ़ी काट-छाँट की और इन्होंने दोबारा लिखा। बीच-बीच में कुछ नए हिस्से जुड़े या बदले गए, उन सबको लिखने का ज़िम्मा इनका ही था।

इसी तरह मेरे मित्रों देवेंद्र कुमार और रमेश तैलंग इस काम में हर क्षण मेरे साथ खड़े रहे। उनसे लगातार इसे लेकर चर्चाएँ होती थीं और उससे बड़ी शक्ति और ऊर्जा मिलती थी। ऐसे ही कृष्ण शलभजी ने पुरानी पीढ़ी के लेखकों की बहुत-सी दुर्लभ रचनाएँ उपलब्ध कराके मेरी मदद की। श्याम सुशील ने पूरे इतिहास ग्रंथ को पढ़कर बड़े उपयोगी सुझाव दिए। इतिहास को लेकर उनसे बहुत लंबी-लंबी चर्चाएँ होती थीं। मेरे ही समान नाम वाले एक मित्र चंद्रप्रकाश ने कई दिनों तक मेरे घर आकर, बाल साहित्य की हज़ारों पुस्तकों को विधा के अनुसार क्रमबद्ध ढंग से संयोजित करने और उनकी संपूर्ण सूची तैयार करने में बड़ी मदद की। इससे काम में बड़ी आसानी हो गई। फिर बहुत-से रचनाकारों ने अपना संपूर्ण साहित्य मुझे उपलब्ध करा दिया। देश में जगह-जगह फैले रचनाकार निरंतर अपनी नई पुस्तकें मुझे भेजते रहे। आज भी भेजते हैं। उनको यह यक़ीन है कि पुस्तक मेरे पास होगी तो वह पढ़ी ज़रूर जाएगी और जो मुझे अच्छा लगेगा, उसकी कहीं न कहीं मैं चर्चा ज़रूर करूँगा। मैं समझता हूँ, रचनाकारों का मुझ पर इतना गहरा विश्वास मेरी शक्ति बना और मुझे लगा, चाहे जितनी मुश्किलें आएँ, बाल साहित्य का इतिहास तो मुझे पूरा करना ही है।

बाल साहित्य की कुछ रचनाएँ छपते ही लेखक अपने-आप को बाल साहित्य का लेखक मानने लग जाते हैं। आपकी नज़र में किसी बाल साहित्यकार की स्तरीयता के कौन-से मापदंड हैं, जिनके आधार पर आपने श्रेष्ठ रचनाओं और रचनाकारों का चयन किया?

मेरे विचार से अगर किसी रचना में कलात्मक उत्कृष्टता और अद्वितीयता न हो, तो वह अच्छी और सार्थक रचना नहीं हो सकती। किसी रचना को पढ़ते हुए लगना चाहिए कि उसकी कुछ अलग शख़्सियत है और वह दर्जनों घिसी-पिटी रचनाओं से अलग है। उसकी भाषा, उसकी कल्पना और बात कहने का अंदाज़, सबमें एक अनूठापन होना चाहिए। उसमें एक तरह की पूर्णता होनी चाहिए। तभी वह अच्छी रचना मानी जा सकती है। कोई लेखक जैसी एक कविता लिखता है, वैसी ही मिलती-जुलती दर्जनों कविताएँ लिख ले, तो यह सृजन नहीं है, कोरी पीटी सरीखी कवायद है। इस तरह की सैकड़ों कविताएँ लिखकर कोई किताब छपवा ले, तो उसका भी कोई महत्व नहीं है। ऐसी रचनाएँ किसी के दिल को नहीं छूतीं। जब कि अच्छी रचना की पहचान ही यही है कि वह लोगों के दिल में उतरनी चाहिए और उसमें कथ्य ही नहीं, भाषा और अभिव्यक्ति का भी ऐसा अनूठापन होना चाहिए कि पढ़ते हुए पाठक मुग्ध हो और देर तक मन पर उसका प्रभाव बना रहे।

कुछ लोगों का मानना है कि इतिहास लेखन कोई सृजनात्मक कार्य नहीं है, क्योंकि बहुत सारी सामग्री आसानी से मिल जाती है। मेरा मानना है कि पुनर्निरीक्षण और मूल्यांकन का यह कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इस पर आपकी क्या राय है?

अगर यह काम इतना ही आसान है और सामग्री इतनी ही आसानी से मिल जाती है, तो अब तक तो बाल साहित्य के दर्जनों इतिहास आ

चुके होते। मैंने तमाम मुश्किलों और अभावों के बीच काम करते हुए, इस काम में अपने जीवन के बीस बहुमूल्य वर्ष लगा दिए। अथक परिश्रम करना पड़ा मुझे।...सच कहूँ तो बरसों तक जिस तरह इस काम में जूझना पड़ा, उसकी याद भी मुझे विचलित कर देती है। अगर यह काम आसान होता, तो इतने श्रम और सही मायनों में इतनी लंबी तपस्या की मुझे क्या दरकार थी?

यह इतिहास लिखते हुए आपने श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, सुभद्राकुमारी चौहान और दिनकरजी से लेकर आज के नए लेखकों को पढ़ा है और उन्हें शामिल भी किया है। तो उस पीढ़ी और आज की पीढ़ी में आपको क्या मुख्य अंतर नज़र आया?

पुराने दौर के लेखकों में साहित्यिक संस्कार बहुत गहरे थे। वे बहुत पढ़ते थे, खुद को निरंतर माँजते थे और अपनी रचनाओं पर बहुत श्रम करते थे। इसलिए इन दिग्गज लेखकों की रचनाओं में इतनी कसावट है कि एक भी शब्द इधर से उधर हो जाए, तो कविता का पूरा ढाँचा ही लड़खड़ा जाता है। इधर के लेखकों में उतने गहरे साहित्यिक संस्कार नहीं हैं, उतना गहरा समर्पण नहीं है और उस तरह का भाषा पर अधिकार और सामर्थ्य भी नहीं है। वे अपने सिवाय किसी और को तो शायद पढ़ते ही नहीं हैं। इसलिए निरंतर सीखने और खुद को माँजने की वह कोशिश उनमें नज़र नहीं आती, जिससे किसी लेखक की रचनात्मकता निखरती है। फ़ेसबुक के ज़माने में तो इतने धैर्य की भी दरकार नहीं। फटाफट कुछ लिखा और अपनी वॉल पर चस्पाँ कर दिया। वह आधी-अधूरी या कि बेधुरी रचना है तो होती रहे! उसमें भाषा की गड़बड़ है, वाक्य-विन्यास लड़खड़ा रहा है, तो भी कोई परवाह नहीं!...नई पीढ़ी के लेखकों का यह तौर-तरीका ठीक नहीं है और इसे देखकर मुझे बहुत निराशा भी होती है। हालाँकि आज के दौर में भी बहुत से सचेत रचनाकार हैं, जो बहुत अच्छा लिख रहे हैं। अरशद खान, साजिद खान, पंकज चतुर्वेदी और मंजुरानी जैन की कहानियों में आपको काफ़ी रस मिलेगा। यही बात फ़हीम अहमद, शादाब आलम और प्रदीप शुक्ल की कविताओं के बारे में कही जा सकती है।

इतिहास लिखते समय आपकी दृष्टि किस पर टिकी है? प्रतिष्ठित रचनाकार पर या उसकी रचनाओं पर?

दोनों पर, प्रतिष्ठित रचनाकारों पर भी और उनकी या अन्यों की अच्छी रचनाओं पर भी। मेरी पूरी कोशिश थी कि बाल साहित्य की धारा को सार्थक मोड़ देने वाले साहित्यकार इस इतिहास के केंद्र में रहें। पर अंततः फ़ोकस तो उनकी अच्छी रचनाओं पर ही था। किसी बड़े साहित्यकार की कोई हलकी या साधारण रचना नज़र आई तो मैंने उसे महत्व नहीं दिया। इसी तरह किसी नए या कम जाने गए रचनाकार की भी कोई उत्कृष्ट रचना मुझे मिली, तो मैंने बड़े उत्साह के साथ उसका ज़िक्र किया है। अंततः तो रचना ही प्रमुख है, रचनाकार बाद में आता है पर बाल साहित्य के इतिहास में चूँकि मेरी कोशिश थी कि उस कालखंड में किसी एक रचनाकार के साहित्यिक योगदान पर एक ही जगह चर्चा हो जाए, इसलिए उस दौर के प्रमुख और सर्वाधिक सशक्त रचनाकारों को अलगाकर, उन पर विशेष रूप से चर्चा मुझे ज़रूरी लगी। इस तरह इतिहास ग्रंथ में बड़े रचनाकारों और उनकी या अन्यों की अच्छी रचनाओं, दोनों को मैंने महत्व दिया और इसमें मुझे कोई मुश्किल नहीं आई।

बाल साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास या अन्य विधाओं का स्तर कई बार किशोर साहित्य या इसके भी ऊपर प्रौढ़ साहित्य के स्तर से मिलने लगता है। तो इनके चयन में आपको एक विवेकी जज की भूमिका निभानी पड़ी होगी। तब आपने उन रचनाओं को किन कसौटियों पर जाँचा-परखा?

बाल साहित्य के एक बड़े कवि हुए हैं, कन्हैयालाल मत्त। उनसे मैंने एक बार पूछा था, "मत्तजी, आप अच्छी बाल कविता किसे मानते हैं?" इस पर उनका जवाब था, "अच्छी बाल कविता तो वही हो सकती है, जिसे पढ़कर या सुनकर बच्चे के मन की कली खिल जाए।" मुझे यह बात बड़ी अद्‌भुत लगी और यह समझ में आया कि मत्तजी ने अच्छी बाल कविता की जो कसौटी बताई है, वह तो किसी अच्छी बाल कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवनी सभी पर लागू हो सकती है। तो जिस रचना को पढ़ते हुए बच्चे का मन आनंदित होता है, वही अच्छा बाल साहित्य है। वरना चाहे उसमें कितनी ही ऊँची-ऊँची बातें बघारी गई हों, बच्चे उसे उठाकर दूर रख देंगे। मैं समझता हूँ कि अच्छे बाल साहित्य की यही सबसे बड़ी कसौटी है। चाहे बाल कविता हो, कहानी, उपन्यास, नाटक या बाल जीवनी आदि, वह उत्कृष्ट बाल साहित्य है कि नहीं, जेनुइन बाल साहित्य है कि नहीं, इसी से उसकी परख हो जाती है।

आपके विचार से 'जेनुइन' बाल साहित्य की बस यही एक कसौटी है?

नहीं, यह मैंने कब कहा? मैंने तो सिर्फ़ यही कहा है कि मोटे तौर से अच्छे बाल साहित्य की परख की यह सबसे आदर्श कसौटी है कि वह किसी बच्चे को आनंदित करता है या नहीं। फिर उसमें एक तरह की अद्वितीयता है या नहीं, उसमें सर्जनात्मक पूर्णता है या नहीं, उसमें भाषा, कल्पना और अभिव्यक्ति का अनूठापन है कि नहीं, उसमें बाल मन की भावना और सहज संवेदना है कि नहीं, विज़न की व्यापकता, भाव-विस्तार और कलात्मक ऊँचाई है कि नहीं, इतनी सारी चीज़ों से आप तय करते हैं कि कोई रचना अच्छी और सार्थक बाल रचना है या नहीं।

बाल साहित्य का लेखन भी सभी विचारधाराओं के लोग करते हैं। वे चाहे समाजवादी हों, साम्यवादी हों या फिर राष्ट्रवादी। क्या बाल साहित्य पर भी इन विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता है?

बाल साहित्य का यह सौभाग्य है कि वह इस तरह की विचारधाराओं से आक्रांत नहीं है बल्कि सच तो यह है कि इस तरह की किसी विचारधारा से आक्रांत व्यक्ति बच्चों के लिए अच्छा और सरस साहित्य लिख ही नहीं सकता। बच्चों के लिए लिखने के लिए तो आपको बाल मन की तरल संवेदना और कोमल अनुभूतियों में डूबना पड़ता है। किसी बच्चे की तरह सरल, निश्छल होकर इधर आना पड़ता है, वरना बाल साहित्य के द्वार आपको हमेशा बंद मिलेंगे।

इतिहास-लेखन भी साहित्यिक विधा की तरह लेखन परंपरा है पर हिन्दी में इस दिशा में उचित प्रगति नहीं हुई। इसके पीछे आप क्या कारण मानते हैं?

बड़ों के साहित्य में तो इतिहास-लेखन पर लेखकों का ध्यान गया है और अब तो अलग-अलग विधाओं के इतिहास भी काफ़ी लिखे जा रहे हैं। हाँ, आपकी यह बात सही है कि बाल साहित्य में इस पर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था, वह नहीं दिया गया। ऐसा नहीं कि इस कार्य की गुरुता और महत्व को लोग समझते न हों पर सवाल तो यह है कि करे कौन? यह चूँकि बड़ा श्रमसाध्य कार्य है और बहुत ज्यादा ज़िम्मेदारी का कार्य है, तो हर शख़्स किसी दूसरे से अपेक्षा करता है कि वह यह काम करे। खुद आगे आकर कोई यह काम नहीं करना चाहता। इसीलिए जब यह बाल साहित्य का इतिहास आया तो बाल साहित्य में इतनी व्यापक हलचल दिखाई दी। बहुतों ने इसे बाल साहित्य में एक बड़ी और ऐतिहासिक घटना माना।

आजकल त्वरित चीज़ों का ज़माना है। लंबी-चौड़ी रचनाओं को पढ़ने का साहस और धैर्य किसी के पास नहीं है। आपका यह इतिहास-ग्रंथ भी काफ़ी विस्तृत है। समयाभाव और भागमभाग की स्थिति में यह ग्रंथ किस प्रकार और कितना उपयोगी होगा?

इतनी त्वरा और अल्प धैर्य वाले लोगों के लिए यह इतिहास-ग्रंथ नहीं है बल्कि कोई भी इतिहास-ग्रंथ नहीं है। वे बेशक अपने मतलब की दूसरी चीज़ें ढूँढ़ लें। इतिहास को पढ़ने की ज़हमत न उठाएँ। यों मुझे इस बात की ख़ुशी है कि आज के समय में भी ऐसे धैर्यवान लोग कम नहीं हैं, जिन्होंने यह पूरा इतिहास-ग्रंथ पढ़ा और फिर लंबा पत्र या लेख लिखकर विस्तार से इस पर चर्चा की। ऐसे धैर्यवान और गंभीर पाठकों को इस इतिहास ने निराश नहीं किया, मेरे लिए तो यही बड़े संतोष और आनंद की बात है।

आपके विचार से एक इतिहास लेखक की सबसे बड़ी उपलब्धि क्या है?

एक इतिहास लेखक की सबसे बड़ी उपलब्धि तो उसका इतिहास ही है, जिसमें समय और समाज के समांतर हम साहित्य के अजस्र प्रवाह को देख सकते हैं। एक ऐसी विकास-यात्रा, जिसमें मानव-मन की भावनाओं और संवेगों का सीधा बिंब देखने को मिलता है। अलग-अलग कालखंड से गुज़रता साहित्य का यह कारवाँ भी, मनुष्य की निरंतर आगे बढ़ती जय-यात्रा से कम नहीं है। यों हम समय और समाज के विकास-क्रम के समांतर साहित्य को देख और समझ सकते हैं। किसी इतिहासकार की यह कोई कम बड़ी उपलब्धि नहीं है।

नए लेखकों से आप क्या अपेक्षाएँ करते हैं?

नए लेखकों को अगर महत्वपूर्ण लेखन करना है तो उन्हें अच्छा पाठक भी होना चाहिए। उन्हें अपने समय के बड़े लेखकों के साथ-साथ पुरानी पीढ़ी के मूर्धन्यों के साहित्य को भी धैर्य के साथ पढ़ना चाहिए। इसी तरह अपनी रचनाओं पर उन्हें मेहनत करनी चाहिए तथा शुद्ध और प्रांजल भाषा लिखनी आनी चाहिए। साथ ही अपनी रचनाओं से मन में गहरा असंतोष भी होना चाहिए। जो कुछ लिखा, उसे झटपट छपा लेना ही काफ़ी नहीं है। रचना लिखने के थोड़े अरसे बाद वे ध्यान से पढ़ेंगे तो उसमें खुद ही बहुत-सी कमियाँ नज़र आएँगी। दुबारा उस पर मेहनत करने पर, अकसर रचना ख़ासी निखर जाती है। तो नए रचनाकारों में अगर धैर्य हो, तो उनकी यात्रा बहुत आगे जा सकती है।

हिन्दी बाल साहित्य के इतिहास को पाठकों, समीक्षकों के हाथों में पहुँचे लगभग छह महीने हो गए। इस दौरान आपको तरह-तरह की टिप्पणियाँ और लोगों के विचार जानने को मिले होंगे। क्या अब आपको ऐसा लगता है कि कुछ चीज़ें, नाम, सामग्री जोड़ी या घटाई जा सकती थीं या आप अपने इस कार्य से पूर्ण संतुष्ट हैं?

बेशक हिन्दी बाल साहित्य के इतिहास पर बहुत विविधता भरी प्रतिक्रियाएँ पढ़ने-सुनने को मिल रही हैं। कुछ लोगों के उपयोगी सुझाव भी मिले हैं। कुछ साहित्यिकों की रचनाएँ तब उपलब्ध नहीं थीं, पर इतिहास-ग्रंथ आने के बाद उन लेखकों ने कृपापूर्वक अपनी लिखी पुस्तकें उपलब्ध करा दी हैं। कुछ और स्रोतों से भी ऐसी रचनाएँ मिली हैं, जिनका इस इतिहास के अगले संस्करण में उपयोग हो सकता है। मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि इतिहास लिखते समय मेरी एक सीमा उपलब्धता की भी रही है। तमाम कोशिशों के बाद भी अगर किसी लेखक की उल्लेख योग्य चीज़ें न मिल पाएँ, तो इतिहासकार के हाथ बँध जाते हैं। इसलिए जो चीज़ें देर-सवेर उपलब्ध हो रही हैं, उन्हें नए संस्करण में शामिल किया जाए, मेरी यह पूरी कोशिश होगी। ❑

आजकल का ग्राहक बनें :

मैं आपकी पत्रिका----------का ❑ एक वर्ष (230 रुपये) ❑ दो वर्ष (430 रुपये) ❑ तीन वर्ष (610 रुपये) का ग्राहक बनना चाहता हूं। शुल्क का रुपये----------डिमांड ड्राफ्ट ----------दिनांक----------संलग्न है।

हस्ताक्षर----------

नाम

:----------

पता

:----------

पिन :❑❑❑❑❑❑

- कृपया अपना चंदा डी.डी. *प्रधान महा निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय* के नाम बनाएँ।
- पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है। कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।
- 'आजकल' पत्रिका ऑनलाइन ख़रीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएँ।
- विल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएँ हैं : *बाल भारती, आजकल* (उर्दू), *कुरुक्षेत्र* (हिन्दी व अंग्रेज़ी), *योजना* (हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)।

चंदा निम्न पते पर भेजें :

संपादक (प्रसार)

प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 56, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली–110003

हिन्दी का बाल-रंगमंच : वर्तमान परिदृश्य

अनिल शर्मा



जन्म : सोनीपत (हरियाणा)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित। आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच के अध्येता। संप्रति : दिल्ली विश्वविद्यालय के ज़ाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य) के हिन्दी विभाग में अध्यापन।

भूमंडलीकरण के दौर में सूचना-प्रौद्योगिकी के नव्यतम साधनों के बरक्स बाज़ार आज हमारे घरों में भीतर तक प्रवेश कर चुका है। 'ग्लोबल' दुनिया में हमारा 'लोकल' कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में निरंतर क्षरित हो रहा है। बाज़ार द्वारा गढ़ी गई 'संयुक्त' से 'एकल' बन चुकी दुनिया में बड़ों के समान ही बच्चों के सामने मोबाइल, टी. वी. के आसान विकल्प मौजूद रहते हैं जिनकी छाया बालमन पर सहज ही पड़ जाती है। इन चीज़ों में सब-कुछ बुरा-ही-बुरा है- यह कहना अतिवादिता होगी किंतु बचपन को पूरी तरह इस तकनीक-निर्मित दुनिया के भरोसे छोड़ देना, उसे असुरक्षित हाथों में छोड़ना है। 'एक्स्ट्रा मार्क्स' वाली स्कूली पढ़ाई भी बालकों की प्रकृति को दबाकर नीरस-भाव पैदा करती है। ख़ासकर, शहरों में रहने वाले बच्चे ऊब और एकाकीपन का शिकार बन रहे हैं। ऐसे में, हमें इस दिशा में गंभीरता से सोचते हुए बच्चे के लिए कलात्मक दुनिया तैयार करनी होगी जो उसकी अवस्था के अनुरूप हो, जिसमें वह खेल भी सके और सीख भी सके- रंगमंच उन्हें यह दुनिया सहज ही उपलब्ध करवा सकता है।



बालकों के लिए नाट्य-लेखन हिन्दी के प्रयोगशील एवं दूरदृष्टा रचनाकार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही शुरू कर दिया था लेकिन उनके बाद लंबे समय तक इस दिशा में अन्य साहित्यकार आगे नहीं बढ़े। स्कूलों में सांस्कृतिक समारोहों में प्रदर्शनस्वरूप कुछेक नाटक अवश्य लिखे और खेले गए। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सरकारों द्वारा सांस्कृतिक उत्थान के लिए कलाओं के विकास के उद्देश्य से कई संस्थान स्थापित किए गए। सन् 1954 में दिल्ली में बच्चों की रंग-गतिविधियों को बढ़ावा देने के लिए 'चिल्ड्रेन लिटिल थिएटर' (बाद में इसका नाम 'दिल्ली चिल्ड्रेन थिएटर' कर दिया गया) की स्थापना हुई। इससे जुड़कर कुछ स्कूलों ने भी बच्चों को रंगमंच की शिक्षा देने के बारे में सोचना शुरू किया। विशेष रूप से, दिल्ली के मॉडर्न स्कूल, दिल्ली पब्लिक स्कूल जैसे स्कूलों ने ड्रामा टीचर रखे और स्कूली शिक्षा में बाल-व्यक्तित्व के विकास में रंगमंच की आवश्यकता को समझते हुए बाल-रंगमंच को मज़बूती प्रदान की। अन्य स्कूलों में इसी के समानांतर रस्मी तौर पर ही वार्षिकोत्सवों में नाटकों का प्रदर्शन जारी रहा। 1960 से 'चिल्ड्रेन लिटिल थिएटर' ने राष्ट्रीय बाल नाट्योत्सव करवाने शुरू किए जिससे रंगकर्मियों का रूझान बाल रंगमंच की ओर बढ़ने लगा। ब. व. कारंत, रेखा जैन, शांता गाँधी, कुदसिया ज़ैदी जैसे रंगकर्मियों ने अपने प्रयासों से बाल-रंगमंच को गति देने का सराहनीय प्रयास किया। 1979 में रेखा जैन ने दिल्ली में बच्चों को नाटक का प्रशिक्षण देने के लिए 'उमंग' नामक संस्था की स्थापना की। रेखा जैन जीवनपर्यंत अत्यंत सक्रियता से 'उमंग' की गतिविधियों को आगे बढ़ाती रहीं। पिछले 40 वर्षों से यह संस्था निरंतर सक्रिय है और इसकी कार्यशालाओं में बाल कलाकारों द्वारा सृजित नाटकों से हिन्दी रंगमंच में मंचीय बाल-नाटकों का एक अच्छा-ख़ासा संकलन भी तैयार हो गया है। 1978-79 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के विस्तार कार्यक्रम के अंतर्गत सुषमा सेठ के निर्देशन में बाल-रंग-शिविर का आयोजन किया गया। तब से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय हर साल ग्रीष्मावकाश में बच्चों के लिए रंग शिविर का आयोजन करता है। इसी प्रक्रिया में 1989 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय 'संस्कार रंग टोली' (थिएटर इन एजुकेशन कंपनी) की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य है- रंगमंच के माध्यम से बच्चों को शिक्षित करना। इसी दौरान देश के विभिन्न शहरों—कलकत्ता, लखनऊ, भोपाल, उज्जैन, जयपुर, जोधपुर में रंगकर्मी आगे आए और अपने प्रयासों से बाल रंग-संस्थाएँ शुरू करते हुए बालकों को केंद्र में रखकर गतिविधियाँ शुरू कीं। इनके साथ ही, वयस्क रंगमंच के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं ने भी बालकों के लिए रंग-गतिविधियाँ बढ़ानी आरंभ कीं। तमाम शहरों में गर्मी की छुट्टियों में बाल नाट्य कार्यशालाओं का

संपर्क : *आई-5/81, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110039, मो. 9899096251*



आयोजन करने का चलन बढ़ा। इन कार्यशालाओं में बच्चों की कल्पना को पंख लगाते हुए, उबाऊ और बोझिल स्कूली पाठ्यक्रम से बाहर निकालकर अपनी मस्ती-भरी किंतु रचनात्मक दुनिया में विचरण करने का अवसर मिलता है। महीनेभर चलने वाली कार्यशाला में नाट्य-प्रस्तुति तैयार होती है जिसमें पार्श्व-कर्म से लेकर मेन-स्टेज तक के सारे कार्य बालकों द्वारा संपादित किए जाते हैं। ये कार्यशालाएँ निश्चित रूप से बच्चों की भरपूर ऊर्जा और उत्साह को सकारात्मक दिशा देते हुए उनके व्यक्तित्व-विकास में सहायक बनती हैं। हालाँकि बाज़ार का दबाव और ख़तरा यहाँ भी है। हर शहर में कुकुरमुत्ते की तरह संस्थाएँ खुलने लगी हैं, जो मोटी फ़ीस लेकर जैसे-तैसे एक नाटक का मंचन तो करवा देती हैं, पर बच्चों की रचनात्मकता को उभारते हुए 'सिखाने' का सरोकार पीछे छूटता नज़र आता है।

वर्तमान में अभिभावकों के व्यवहार में भी काफ़ी बदलाव आया है। ख़ासकर, शहरी अभिभावक ग्रीष्मावकाश में अपने पब्लिक स्कूली बच्चों को किसी-न-किसी रंग-शिविर से जोड़ देते हैं हालाँकि यह अवधि बच्चे के सर्वांगीण विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। दरअसल, कुछ अभिभावक नाट्य प्रशिक्षण को भी 'समर कैंप' का हिस्सा मान अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं और कुछ बच्चे को स्टेज पर देखते ही मायानगरी के सपने देखने लगते हैं तथा अपने बच्चों को टी. वी. या फिल्मी कलाकार बनाने की दौड़ लगाना शुरू कर देते हैं।

विकास की तमाम परिभाषाओं के बावजूद बालकों के सर्वांगीण विकास के लिए रंगमंच को स्कूली शिक्षा का हिस्सा बनाने का चलन हमारे यहाँ नहीं है। कुछ स्कूलों में ही 'एक्स्ट्रा करीकुलर एक्टिविटी' के तहत और कुछ प्रदेशों में सी.सी.ई. पैटर्न के तहत छठी से दसवीं तक के बच्चों को रंगमंच पढ़ाया/सिखाया जाता है लेकिन यह संख्या बहुत ही कम है। बच्चों को रंगमंच का प्रशिक्षण देने के लिए किसी स्थायी संस्थान का अभी भी हमारे देश में अभाव है। देवेन्द्र राज अंकुर के शब्दों में, "भारतीय रंगमंच का सबसे अछूता और अनचाहा पहलू यदि कोई है तो वह है बाल रंगमंच। इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि हमारे यहाँ नाट्य कला के प्रशिक्षण के लिए वयस्कों के लिए तो विभिन्न विश्वविद्यालयों, राज्यों और केंद्रीय सरकार द्वारा स्थापित नाट्य विद्यालय मौजूद हैं लेकिन बच्चों को आरंभ से ही इस दिशा में प्रेरित करने के लिए एक भी अलग या स्वतंत्र रूप से स्थापित विद्यालय नहीं है जबकि उसकी बेहद ज़रूरत है।" ('रंगप्रसंग', वर्ष 8, अंक 4) दिल्ली में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के अंतर्गत संस्कार रंग टोली अवश्य सैटरडे-क्लब और संडे-क्लब के रूप में बच्चों के लिए रंग-गतिविधियों का संचालन करता है लेकिन उसमें भी सीटों की संख्या सीमित होने के कारण बहुत अधिक बच्चे सहभागिता नहीं कर पाते।

हिन्दी के बाल-रंग-परिदृश्य का अवलोकन करने पर यही आभास होता है कि इस दिशा में काफ़ी काम हो रहा है किंतु 'श्रेष्ठ' अभी दूर है। शुरू-शुरू में बाल नाटक केवल बच्चों को नैतिक शिक्षा देने के लिए ही लिखे जाते थे, फिर उनमें मनोरंजन का पुट दिया गया, धीरे-धीरे बाल नाटक ने बच्चों के जीवन से संबंधित समस्याओं को भी अपने कलेवर में समेटा। आज बाल नाट्य कार्यशालाओं में ही 'इंप्रोवाइजेशन' के ज़रिए बाल-सुलभ कल्पना के माध्यम से नाट्यलेख भी तैयार हो रहे हैं, यह अपने-आप में उत्साहवर्धक प्रयास है। वस्तुतः आज के साहित्यिक दौर में जहाँ सभी विधाओं में धड़ाधड़ लिखा जा रहा है वहाँ बच्चों के लिए लेखन (विशेष रूप से बाल-नाटक) पहले ही की तरह अब भी उपेक्षित-सा ही पड़ा है। कुछेक साहित्यकार अवश्य बाल-नाट्य-लेखन में आगे आए किंतु उनके लिखे कितने नाटक मंचित और चर्चित हुए- यह भी विचारणीय है। ऐसी स्थिति में 'इंप्रोवाइजेशन' के तहत नाट्य-प्रस्तुतियों के सरोकार बच्चों की दुनिया से जुड़ते-से दिखते हैं। अधिकाँश प्रस्तुतियों में बच्चे ही अभिनय करते हैं, कुछ में बड़े भी शामिल रहते हैं। नाटक एक ऐसी विधा है जिसमें खेल के रूप में कविता, कहानी, रहस्य, रोमांच, कल्पना, अभिनय, अनुशासन, गीत, संगीत, नृत्य भी शामिल है। बच्चों को नाटकों में जितना आनंद आता है, उतना शायद ही साहित्य के किसी अन्य रूप में। जब वे नाटकों में स्वयं अभिनय करते हैं या अपने ही जैसे बच्चों और उनकी मुश्किलों-खुशियों को नाटक में देखते हैं तो 'तदनुभूति' से भरकर अपने मन का विस्तार पाते हैं।

बच्चों के लिए रंगमंच वह खेल है जिसमें उनके शारीरिक व्यायाम के साथ उनकी बाल-कल्पनाओं के लिए पूरा अवकाश है। बच्चे पशु-पक्षियों, तितलियों-परियों, मछली-मेंढकों, पेड़-पौधों, आकाश आदि की रोचक और रंगीन कल्पना खूब करते हैं। रंगमंच इन विविध प्रकार के प्राणियों के जीवन जीने के अवसर बच्चों को देता है।



इनसे जुड़कर बच्चे में प्रकृति और पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता भी विकसित होती है। शिक्षा का मूल-मंत्र है 'सीखना'। सीखने की प्रक्रिया में बच्चों को 'औपचारिक शिक्षा' देना बहुत बार चुनौतीपूर्ण हो जाता है क्योंकि वह उन्हें अरुचिकर लगती है। ऐसे में यदि रंगमंचीय गतिविधियों को शामिल कर लिया जाए तो उसके सकारात्मक परिणाम हो सकते हैं। रंगमंच के खेलों में बच्चे खुशी-खुशी, मज़े लेते हुए, चुपके-से बहुत-कुछ सीख जाते हैं। रंगमंच में सारी कलाएँ- पेंटिंग, गाना, नृत्य आदि शामिल रहती ही हैं। बच्चा अपनी मनोनुकूल कल्पना और कला के अनुरूप जब भी स्टेज पर जाएगा तो अपने दिमाग़ और शरीर के सही तालमेल से ही कुछ 'अच्छा' ही प्रस्तुत करेगा। कई बार बाल-रंग-कार्यशालाओं में नाटक की तैयारी के समय नन्हें बच्चों के चौंकाने वाले विचार और अनूठी बातें सामने आती हैं और फिर उन नए विचारों के लिए नवीन अभिव्यक्ति की खोज शुरू होती है। इस खोज-यात्रा में बच्चों का नए-नए शब्दों और नई-नई चीज़ों से परिचय होता है। इस प्रक्रिया में बच्चा जो कुछ भी 'सीखता' है उसे वह कभी भी भूल नहीं पाता।

बच्चे को 'सामाजिक' बनाने में भी रंगमंच महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। 'सोशल मीडिया' की प्रधानता वाले आज के दौर में व्यक्तिगत और सामाजिक बिखराव एक गंभीर समस्या बनती जा रही है। 'स्टेटस अपडेट' करने की दौड़ लगाती दुनिया में संवेदना, सहानुभूति, सद्भाव, आत्मीयता जैसे शब्द बेमानी होते जा रहे हैं। ऐसे में रंगमंच खेल-खेल में ही 'टीम वर्क' की भावना का बीज बच्चे के भीतर रोपता है और 'अकेलेपन' से भरपूर इस स्वार्थी दुनिया में स्वस्थ और सकारात्मक दृष्टिकोण देते हुए उसमें 'सामूहिक भावना' का विकास करता है।



रंगमंच बच्चों को वे सारे अवसर उपलब्ध करवा सकता है जिन्हें वे किसी भी प्रकार के 'डर' या दबाव के चलते नहीं कर पाते। रोना, हँसना, चिल्लाना, गाना, नृत्य करना, उछल-कूद सारे काम बच्चे 'चरम' पर कर सकते हैं लेकिन बड़ों द्वारा उन्हें बहुधा रोक दिया जाता है। रंगमंच इस रुकावट को तोड़ते हुए उन्हें बेझिझक स्वयं को अभिव्यक्त करने का 'स्पेस' देकर उनके जोश को स्वस्थ ऊर्जा में तब्दील कर सकने की क्षमता रखता है। इस रूप में बाल-रंगमंच 'विकृत' होती जा रही मानसिकता को स्वस्थ दिशा देने का काम बखूबी कर सकता है।

उपर्युक्त चर्चा की पृष्ठभूमि में वर्तमान के बाल-रंगालोक में पिछले दिनों दिल्ली में हुए दो ऐसे नाटकों का उल्लेख ज़रूरी है जो ख़ास-तौर पर बच्चों के लिए तैयार किए गए। पहला है 'बाबला और बापू/साबरमती आश्रम'। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की 'संस्कार रंग टोली' ने एम. के. रैना के निर्देशन में इस संगीतात्मक प्रस्तुति को तैयार किया। यह प्रस्तुति प्रसिद्ध गाँधीवादी और गाँधी-कथा के प्रस्तोता नारायण देसाई की संस्मरणात्मक पुस्तक 'बापू की गोद में' पर आधारित थी। नारायण देसाई महात्मा गाँधी के सचिव महादेव देसाई के पुत्र हैं। 'बापू की गोद में' उनके बचपन के उन दिनों का चित्रण है जो उन्होंने साबरमती आश्रम में गाँधीजी के सान्निध्य में बिताए थे। आश्रम में महात्मा गाँधी की सुबह की सैर और दौड़, बच्चों के साथ उनका खेलना और मित्रवत् व्यवहार, बच्चों के पत्रों में बाल-सुलभ सवालों का संक्षिप्त पर उन्हीं के अनुरूप जवाब देना, बच्चों द्वारा अपने विदेश में बने खिलौनों को आंदोलन के दौरान फेंक देना आदि के साथ स्वाधीनता-संघर्ष को भी इस नाटक में गीत-संगीत के समावेश और बाल-मनोविज्ञान के अनुरूप बखूबी से दिखलाया गया। 'बाबला और बापू/साबरमती आश्रम' गाँधीजी की 'नई तालीम' के अनुरूप शिक्षा-व्यवस्था और सामाजिक-परिवर्तन की उनकी दृष्टि के प्रति बालकों में विचार भरने का काम भी करता दिखा।

दूसरा नाटक 'तोतो चान' है जिसका मंचन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा आयोजित 'जश्न-ए-बचपन-2018' के तहत हुआ। 'विहान ड्रामा वर्क्स', भोपाल की इस प्रस्तुति का निर्देशन सौरभ अनंत का था। नाटक जापान के तेत्सुको कुरोयानागी के आत्मकथात्मक उपन्यास 'मेदोगिवा नो तोतो चान' से प्रेरित है। बाल-सुलभ कल्पना और जिज्ञासाओं के चलते नन्हीं तोतो को तथाकथित स्कूल से निकाल दिया जाता है। माँ तोतो को एक ऐसे स्कूल में ले जाती है जहाँ वह अपनी कल्पना के अनुरूप विचर सके। रेल के डिब्बों की कक्षाओं वाले इस 'तोमोए' नामक स्कूल में हेडमास्टर सोसाकू कोबायाशी परंपरागत पद्धति के विपरीत बच्चों के मनोनुकूल खेल, प्रकृति और अभ्यास के माध्यम से सिखाते हैं, उनके सपनों को उड़ान देते हैं। तभी द्वितीय विश्व युद्ध के कारण अमरीका द्वारा बरसाए बमों की चपेट में आकर 'तोमोए' नष्ट हो जाता है। बावजूद उसके कोबायाशी तोतो से पूछते हैं, "बेशक तोमोए जलकर राख हो गया, वो पहले से ही एक बेहतर स्कूल का विचार कर रहे थे, तुम कैसा स्कूल बनाना चाहती हो?" इसी सवाल को दर्शकों के सुपुर्द करते हुए नाटक प्राथमिक शिक्षा को अधिकाधिक रोचक और रचनात्मक बनाने के न केवल अनूठे सुझाव देता है बल्कि उसकी प्रभावकारिता की दिशा में उनकी सोच को भी सकारात्मक विस्तार देता है। विश्व-बंधुत्व और शान्ति के आलोक में परमाणु-अस्त्रों की निरर्थक मौजूदगी का अहसास भी नाटक गहराई से कराता है। रंगमंच के माध्यम से शिक्षा की दिशा में यह नाटक एक बेहतरीन प्रयास है।

इस प्रकार के नाटकों का मंचन हिन्दी के बाल-रंगमंच की संतुलित और स्वस्थ दिशा के प्रति उम्मीद का भाव पैदा करता है। बाल-रंगमंच का एकमात्र लक्ष्य बच्चे की सकारात्मक ऊर्जा को बेहतरीन दिशा देने पर ही केंद्रित होना चाहिए। यदि दिशा सही मिल जाएगी तो जीवन की सही राह की संभावनाएँ अपने-आप ही बन जाएँगी। ❑



जन्म : 13 नवंबर, 1962 लेखन और पत्रकारिता का 30 वर्ष का अनुभव। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। दो कहानी-संग्रह प्रकाशित। अनेक कहानियाँ रेडियो से प्रसारित। 50 से अधिक साहित्यिक उपन्यासों का रेडियो रूपांतरण। अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

स्माइल प्लीज़!

सुधांशु गुप्त

स्माइल प्लीज़ और क्लिक के बीच न जाने कितनी सदियाँ बीत जाती हैं।

जो फ़ोटो उसके पास आई, उसमें कुल जमा चार लोग थे। एकदम बायीं तरफ़ लगभग 65 वर्षीय एक शख़्स थे। उनके गालों की लाली और चेहरे की रंगत देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह उम्रदराज़ हैं। उनकी मूँछें भी अच्छा-ख़ासा गुरूर लिए थीं। वह अनुवादक थे। अनेक भाषाओं की रचनाओं को हिन्दी में लाने का काम करते थे। इस तरह साहित्य से उनका गहरा रिश्ता था। वास्तव में साहित्यिक दुनिया में उनका खूब नाम था लेकिन उनके चेहरे की मुस्कुराहट आत्मसंतुष्टि की पराकाष्ठा दिखा रही थी। ऐसा लग रहा था कि वह केवल तकनीकी काम ही कर रहे हैं और खूब सफल हैं। अन्यथा दुनियाभर की दिक़्क़तों को देखने, जानने और समझने-लिखने वाला व्यक्ति इतना खुश कैसे दीख सकता है!

उनकी बग़ल में ही एक 30-35 वर्ष की युवती थी। खुले कंधे तक झूलते हुए बाल, लहँगा और उसके ऊपर काले रंग की कमीज़। कमीज़ पर आगे की ओर फूल-पत्तियाँ बनी थीं। गले में एक माला भी झूल रही थी। आँखों में शायराना रूमानियत थी। एकदम वाचाल क़िस्म की यह युवती हर समय और हर बात पर मुस्कुराने की योग्यता रखती थी लेकिन उसकी आँखों के नीचे इकट्ठा हो रहा कालापन बता रहा था कि वह अपने भीतर बहुत-सी उदासियों को भी समेटे हो सकती है। यह महिला शेरो-शायरी, कहानी लेखन और कार्यक्रमों का संचालन बखूबी किया करती थी। हर तरह के कार्यक्रमों का संचालन उसके बाएँ हाथ का खेल था। उसके चेहरे पर हर समय एक रहस्यमयी मुस्कान तैरती रहती। यह मुस्कान मोनालिसा की मुस्कान जैसी कतई नहीं थी। चार लोगों की तस्वीर के इस फ़्रेम में वह पूरी तरह फ़िट थी। इस महिला के बराबर में ही एक शख़्स की तस्वीर थी, जो काले रंग का कोट-पैंट पहने था। सफ़ेद शर्ट और उस पर चैक की टाई, उसके व्यक्तित्व को एक मैनेजेरियल लुक दे रहे थे। लग रहा था कि वह किसी पत्रिका में संपादक या मैनेजमेंट का आदमी है। उसके चेहरे पर बहुत-कुछ पा लेने का सुकून था। इस सुकून में कहीं कुछ ऐसे भाव भी थे जैसे वह दुनिया को कितनी आसानी से बेवकूफ़ बना पा रहा है। फ़्रेम में वह भी मिसफ़िट नहीं था।

...और चौथी तस्वीर उसकी थी। एक प्रौढ़ कहानीकार की। यही तस्वीर थी जो पूरे फ़्रेम को ख़राब कर रही थी। हालांकि उसने काली पैंट और सफ़ेद रंग की शर्ट पहनी हुई थी। उसके ऊपर हाफ़ बाजू का स्वेटर था। रंगों के संयोजन में कहीं कोई गड़बड़ नहीं थी लेकिन उसके चेहरे पर मुस्कुराहट का नामोनिशान नहीं था। अंदर ठंड से बचने के लिए उसने इनर भी पहना हुआ था। बाल पता नहीं क्यों अजीब ढंग से बिखरे पड़े थे। जब फोटो क्लिक करने वाले ने 'स्माइल प्लीज़' कहा था तो उसके होंठ मुस्कुराने की कोशिश में कुछ इस तरह टेढ़े हो गए थे कि एक तरफ़ का हिस्सा कुछ ऊपर उठ गया था। ऐसा लग रहा था कि इस तरफ़ से कोई सुरंग-सी भीतर जाती है। माथे पर तीन लकीरें उभर आई थीं। न जाने कब से उसकी पेशानी पर ये तीन लकीरें बनी हुई हैं। अब तो ऐसा लगता है मानों ये तीन रेखाएँ स्थायी भाव ले चुकी हैं।

उसने तस्वीर को बार-बार देखा। उसका मन एकदम ख़राब हो गया। वह सोचने लगा कि आख़िर उसकी तस्वीर ही इतनी ख़राब क्यों आती है। बाक़ी सब लोग तो तस्वीरों में हँसते-बोलते दिखाई पड़ते हैं। क्या ये सब लोग सचमुच इतने खुशहाल हैं, जितने तस्वीरों में दिखाई दे रहे हैं या ये इतने अच्छे अभिनेता हैं कि तस्वीर खिंचवाते समय 'स्माइल प्लीज़' कहते ही इनके चेहरों पर स्माइल आ चिपकती है। उसने बहुत से हिन्दी, क्षेत्रीय भाषाओं और विदेशी साहित्यकारों की तस्वीरें देखी हैं। कभी उसे किसी के चेहरे पर इतनी मुस्कुराहट दिखाई नहीं पड़ी। आख़िर जो निजी और सामाजिक समस्याओं से दिन-रात घिरा हो वह कैसे इस तरह किसी के भी 'स्माइल प्लीज़' कहने पर हँस सकता है। लेखन को कभी उसने इतना खुशहाल नहीं देखा। लेखकों को हर समय इस तरह मुस्कुराना नहीं चाहिए। इस तस्वीर को देखकर उसके मन में आया यह एक विचार था। उसके चेहरे पर गंभीरता, परेशानियाँ और दुखों की छाया ज़रूर दिखाई देनी चाहिए। चाहे ये छायाएँ निजी हों या सामाजिक।

तस्वीर को देखकर इसी के समानांतर एक दूसरा विचार भी उसके मन में आया था। वह यह कि उसकी तस्वीर भी अच्छी आनी चाहिए। यह क्या बात हुई कि आप हमेशा ही मुँह लटकाए रहें। हमेशा आपकी पेशानी पर निजी या समाज की चिंताएँ चिपकी रहें। आपको सहज भी तो रहना आना चाहिए। वह लगातार सोच रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह सहज नहीं है। उसे अपने भीतर सहजता लानी ही होगी। आज के दौर में मुस्कुराए बिना काम नहीं चलेगा। आप "क्या सोचते हैं" से ज़्यादा महत्वपूर्ण यह है कि "आप कैसे दिखते हैं"। उसे याद है कि एक बार किसी राष्ट्रीय पार्टी के अध्यक्ष की फ़ोटो प्रचार सामग्री पर इसलिए इस्तेमाल नहीं की गई थी कि उनका चेहरा फ़ोटोजनिक नहीं था। पार्टी का अध्यक्ष होने से भी ज़्यादा अहम है उसका सुंदर दिखना। एक बार किसी दार्शनिक ने यह भी कहा था कि यह देखने का दौर है।

***संपर्क** : 64-सी, डीडीए फ़्लैट, सत्यम इंक्लेव, झिलमिल कॉलोनी, दिल्ली-110095, मो. 9810936423*

अब अगर आपकी कोई रचना कहीं छपती है तो लोग कहते हैं, पत्रिका में आपकी रचना देखी। पढ़ने से सरोकार शायद कम होते जा रहे हैं। देखना और दिखना महत्वपूर्ण हो गया है। तो इस तस्वीर ने उसके मन में यह भाव पैदा किया कि उसकी तस्वीर भी सुंदर आनी चाहिए। उसे भी दर्शनीय होना चाहिए।

लेकिन कैसे? वह सोचने लगा, क्या वह हमेशा से ही ऐसा है। क्या उसकी पेशानी पर हमेशा से ही बल पड़े हुए हैं लेकिन उसके पास यह जानने का कोई तरीका नहीं है। शायद उसकी पारिवारिक और सामाजिक ज़िम्मेदारियों ने उसके चेहरे को ऐसा बना दिया है या यह भी संभव है कि समाज में रोज़ होने वाली घटनाएँ ही उसे मुस्कुराने से रोकती हों। वरना कौन है जो हँसना नहीं चाहता! लेकिन कम से कम एक बार तो उसका फ़ोटो अच्छा आना ही चाहिए। चाहे इसके लिए उसे अभ्यास ही क्यों न करना पड़े।

"मैं ज़रा बाहर जा रही हूँ, दवाई लेने, कुंडी लगा लो।" यह कहकर पत्नी बाहर निकल गई।

उसने उठकर कुंडी लगा ली है। अब वह घर में एकदम अकेला है। अब वह शीशे के सामने खड़े होकर यह नोट कर सकता है कि उसके चेहरे की मुस्कुराहट कहाँ गुम हो गई है। अचानक वह उठा और आदमक़द शीशे के सामने जाकर खड़ा हो गया। उसने बड़े ध्यान से खुद को देखा। चेहरे पर कहीं कुछ ऐसा नहीं है जिसे अजीब कहा जा सके। सिर पर घने बाल हैं, बीच के बाल थोड़े सफ़ेद हो गए हैं, पर न होने से तो अच्छा ही है। चश्मे के पीछे से उसकी आँखों में बेशक नीला या हरापन न हो लेकिन वे काली हैं। उनके ऊपर घनी भवें हैं और देखने वालों को बुरी नहीं लगती होंगी। उसने अपने माथे को ध्यान से देखा। उस पर वे तीन लकीरें ज्यों की त्यों हैं। मानो जन्म से ही उन्होंने पेशानी पर अपना अधिकार जमा लिया हो लेकिन होंठ थोड़े काले हैं। उसने अपने-आप से कहा, स्माइल प्लीज़...। उसने शीशे के उस ओर देखा। सामने वाला व्यक्ति हँसने की कोशिश कर रहा है और इस कोशिश में उसका पूरा चेहरा विद्रूप हो गया है। उसने एकदम गंभीरता अख़्तियार कर ली बल्कि माथे पर थोड़ी त्योरियाँ और चढ़ा ली हैं। उसने सोचा कि मुस्कुराने का ढोंग क्यों किया जाए, बिना मुस्कुराहट के भी तो तस्वीर अच्छी आ सकती है। और यह भी क्या ज़रूरी है कि मुस्कुराते समय दाँत दिखाई ही दें। आप होंठों ही होंठों में भी तो मुस्कुराने की कोशिश कर सकते हैं। उसने ऐसी ही कोशिश की। हाँ, अब ठीक लग रहा है। अपनी एक तस्वीर इसी तरह की खिंचवाई जाए। एकदम सहज, मुस्कुराहट सिर्फ़ होंठों से दिखाई दे। दाँत दिखाई नहीं देने चाहिए। फिर वह अचानक ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा। उसने देखा हँसी के इन ठहाकों के बीच भी उसके माथे पर लकीरें हैं। वह चुप हो गया। फिर उसने न जाने कितनी देर तक इसी तरह मुँह बना-बना कर हँसने का रियाज़ किया। अगर इस समय कोई उसे देखता तो निश्चित ही पागल समझता। शुक्र है घर में कोई नहीं है।

हँसने का उसका यह रियाज़ कई दिनों तक चलता रहा और रियाज़ आप में निपुणता तो लाता ही है। उसने पाया कि अब उसके चहरे पर हँसते समय भी थोड़ी सहजता रहती है। वह उतना बुरा नहीं लगता। हँसने का उसने एक और तरीक़ा रियाज़ के दौरान ही खोज लिया। वह होंठों की बजाय आँखों में हँसने लगा। कुछ दिनों में ही शीशे के सामने की अपनी तस्वीर उसे भली लगने लगी।

अब ठीक है। अब वह भी ऐसी तस्वीर खिंचवाएगा जिसमें वह मिसफ़िट नहीं होगा। वह भी और लोगों की तरह ही दिखेगा। उसके चेहरे पर भी मुस्कान होगी। वह भी खुशहाल-सा लगेगा। शीशे से अलग हटकर वह हल्का-सा मुस्कुराया। धीरे-धीरे उसका आत्मविश्वास बढ़ता चला गया।

उसने अच्छे कपड़े पहने, सलीके से बाल संवारे, चेहरे पर क्रीम लगाई और सैनिक की तरह चलता हुआ एक फ़ोटो स्टूडियो में पहुँच गया। बाहर रिसेप्शन पर पैसे देने के बाद वह भीतर डार्क रूम में पहुँच गया। फ़ोटोग्राफ़र ने कैमरा पहले से ही तैयार रखा हुआ था। उसे एक बेंचनुमा सोफ़े पर बिठाया गया। इस बेंच में पीछे सहारा लेने के लिए कुछ नहीं था। आप अलर्ट होकर ही बैठ सकते थे।

"एकदम सीधा बैठो, कमर झुकाकर नहीं", फ़ोटोग्राफ़र ने कहा।

वह फ़ोटोग्राफ़र के आदेशानुसार वैसे ही बैठ गया। उसने अपनी गर्दन को भी बिना कहे सीधा कर लिया लेकिन फ़ोटोग्राफ़र उसके पास आया और दोनों हाथों में उसकी गर्दन लेकर बोला, "गर्दन एक तरफ़ को मत झुकाओ, बिलकुल सीधी रखो।"

उसने कोशिश की कि गर्दन सीधी रहे पर पता नहीं क्यों उसकी गर्दन एक तरफ़ को ढुलक ही जाती है। अब तक सब ठीक चल रहा था। उसे लग रहा था कि सब कुछ ठीक-ठाक ही निबट जाएगा। कमाल की बात यह थी कि वह शीशे के सामने किए गए अभ्यास की सारी बातें भूल चुका था। वह लगातार कोशिश कर रहा था कि सहज रहे।

तभी फ़ोटोग्राफ़र ने कहा, "स्माइल प्लीज़...."।

उसे अचानक सब कुछ याद आ गया। वह सोचने लगा कि अपने चेहरे पर स्माइल कैसे लाए। उसे शीशे के सामने किए सारे रियाज़ याद आ गए। उसने ईमानदारी से कोशिश भी की कि उसके चेहरे पर स्माइल आ जाए...उसने तरह-तरह से होंठों को घुमा कर देखा। उसे यह भी याद आया कि उस तस्वीर में वह अन्य लोगों से कितना भद्दा लग रहा था। कैसे उसके होंठ मुस्कुराने की कोशिश में एक तरफ़ को ऊपर उठ गए थे। ऐसा लग रहा था कि उस तरफ़ को कोई गुफा बनी हुई है। उसने यह भी कोशिश की कि होंठों की बजाय आँखों से ही हँसा जाए लेकिन जैसे-जैसे वह यह कोशिशें करता गया उसके चेहरे पर तनाव बढ़ता गया। उसने अपने माथे पर हाथ फेर कर देखा तो उसे यह भी अहसास हुआ कि उसकी पेशानी पर काफ़ी बल पड़ चुके हैं। उसने फ़ोटोग्राफ़र की तरफ़ देखा, लेकिन उसका चेहरा कैमरे के पीछे छिपा हुआ था। वह शायद फ़ोकस करने की कोशिश कर रहा था। समय था कि बीत ही नहीं रहा था। वह सोच रहा था कि 'स्माइल प्लीज़' की आवाज़ उसे एक बार और सुनाई देगी और उसके चेहरे का तनाव बढ़ जाएगा लेकिन किया क्या जा सकता है। अब तो वह स्टूडियो में आ ही गया है। यहाँ से भागकर जाया नहीं जा सकता। अब क्या किया जाए। वह नहीं चाहता कि इस बार उसकी फ़ोटो ख़राब आए। वह हर हाल में मुस्कुराने वाली फ़ोटो खिंचवाना चाहता है। पता नहीं यह फ़ोटोग्राफ़र क्लिक करने में इतनी देर क्यों लगा रहा है। यह जितनी देर लगाएगा उसकी फ़ोटो उतनी ही ख़राब आएगी। वह सोच में डूब गया। उसकी आँखों के सामने वही फ़ोटो तैरने लगी जिसमें चार लोग थे। वह उस तस्वीर में कितना मिसफ़िट लग रहा था। कहीं ऐसा न हो कि इस बार की तस्वीर पहले वाली तस्वीर से भी ख़राब आए। वह सोचता रहा... सोचता रहा। क्लिक की आवाज़ उसे सुनाई नहीं दी। उसने सोचा कि यह फ़ोटोग्राफ़र भी नहीं चाहता होगा कि उसकी तस्वीर अच्छी आए। तभी इतना समय लगा रहा है। पता नहीं कितना समय ऐसे गुज़रा होगा। और...

तभी अचानक उसके कानों में आवाज़ आई, "स्माइल प्लीज़...।"

उसने एक पल सोचा और स्टूडियो से उठकर बाहर निकल आया। उसने पाया कि अब वह सहज रूप से हँस सकता है। ❑

बालमन की अभिव्यक्ति

भुनेश्वर भास्कर

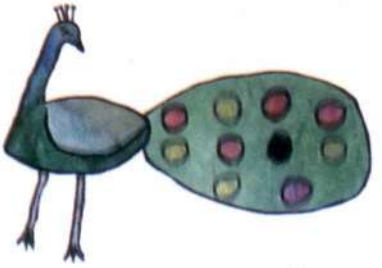


जन्म : 5 फरवरी, 1969, चित्रकार एवं कला-लेखक। राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी में भागीदारी। कई एकल प्रदर्शनियों का आयोजन। कला के लिए राष्ट्रीय स्कॉलरशिप एवं जुनियर फेलोशिप प्राप्त। कई कला प्रदर्शनियों में पुरस्कृत। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कला विषय पर निरंतर लेखन। दिनकर कला-लेखन पुरस्कार प्राप्त।

रोते-बिलखते नन्हें-नन्हें बच्चे जब पेट की भूख मिटाने के लिए अथवा माँ का दूध पीने के लिए व्याकुल होते हैं तो अपने रूदन के साथ ही अपने हाथ को पटकते हैं, अँगुलियों को घुमाते हैं। हाथ पटकने और माँ को अँगुलियों-हथेलियों से इशारा करने के क्रम में हवा में कई रेखाएँ बनती हैं। उस समय बच्चे रेखाओं के माध्यम से बहुत सारी बातें कह देते हैं। बच्चे का वह दृश्य एक तरफ़ अभिनय कला को जन्म देता है तो दूसरी तरफ़ जाने-अनजाने में रेखाओं के माध्यम से चित्रकला को भी जन्म देता है। धीरे-धीरे जब वे मकौआ बनकर चलते हैं तो चलने के क्रम में कभी ज़मीन पर गिरे हुए पानी से तो कभी दीवार पर उनके नाखूनों एवं अँगुलियों से रेखाएँ उभर आती हैं जिसमें कई चीज़ें दृष्टिगत होती हैं। वे रेखाएँ हमें सोचने पर मजबूर करती हैं। जीवन में रेखाओं की शुरुआत तत्समय से ही हो जाती हैं और विभिन्न रूपों में वह हमारे साथ रहती हैं।













जोबरइया, गढ़वा (झारखंड) के बच्चों द्वारा निर्मित कलाकृतियाँ

बचपन अपने-आप में ख़ास होता है। ख़ास इसलिए भी क्योंकि उसी समय मन-मस्तिष्क का विकास भी हो रहा होता है। जिस ढाँचे में उनका मन-मस्तिष्क ढलता है उसी दिशा में ढ़लने जाते हैं। स्वभाव से अत्यंत कोमल, सहज, सरल, जिज्ञासु, स्वच्छंद एवं उत्साह से भरे हुए बच्चों के मन की उड़ान जब हवा में उड़ती है तो उड़ती ही चली जाती है। कभी नीले गगन को छू लेना चाहती है तो कभी समुद्र की गहराई को नाप लेना। इनकी जो उड़ने की क्षमता है वह अद्‌भुत है। वही उड़ान जब उनके हाथों किसी सतह या फलक पर रेखाओं-आकारों के रूप में सृजित हो जाती है तो उसे हम बाल कला के रूप में देखते हैं। उन कृतियों में उन रेखाओं में उनकी सारी सोच दृष्टिगत होती जिसमें शत-प्रतिशत उनकी मौलिकता होती है।

बालचित्रों का सृजन जब छोटे-छोटे हाथों से होता है जो उन चित्रों में बालमन की स्वतंत्रता, सहजता एवं उनके मनोभावों की गहराई मुख्य रूप से दिखाई देती है। कोई भी बच्चा जब चित्र सृजित करने बैठता है तो उसके सामने कोई सादा काग़ज़ या कोई सतह होता है। तब काग़ज़ पर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए वह बेचैन हो उठता है। उसकी कल्पनाएँ तरंगित होने लगती हैं। उसकी रचना-प्रक्रिया बिल्कुल अलग होती है। कई विषयों को बहुत ही मनमौजी ढंग से

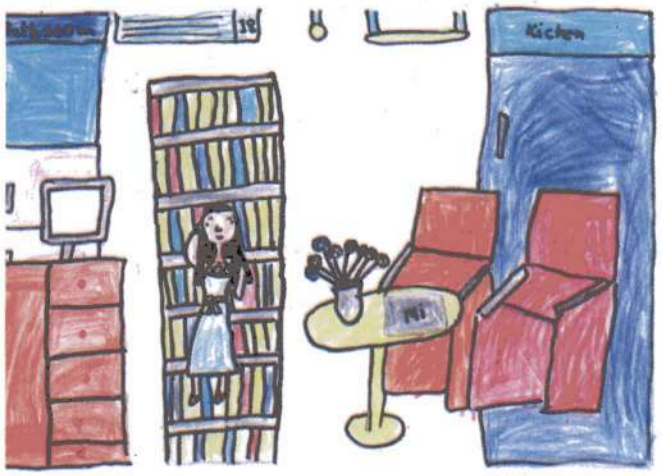
संपर्क *: जी-52 (तृतीय तल), गली नं. 16, जगतपुरी दिल्ली-110051*
मो. 8130181461



अर्चना मिश्रा, लखनऊ

लेकिन सतर्कता के साथ पेंसिल या किसी रंग से आकृतियाँ उकेरने लगता है। देखते ही देखते बहुत सारी आकृतियाँ दृष्टिगत होने लगती हैं। चित्र बनाते समय वह सजग रहता है। उस दौरान उसके मन में कोई अन्य बात नहीं घूम रही होती है। उसकी आकृतियों को देखने के पश्चात् हम कई बार चकित हो जाते हैं। वह बड़े-से बड़े विषयों को भी काफ़ी सरलता के साथ पेपर पर कैसे रख देता है! उसकी सोचने की प्रक्रिया कैसी है? उसे अपनी सोच पर इतना विश्वास कैसे है? वाक़ई उसे अपने-आप पर भरोसा होता है!

चंचलता एवं निश्छलता के साथ बाल मन द्वारा सृजित की गई ज़्यादातर बच्चों की कलाकृतियों में आकृतियों की बनावट एक जैसी ही होती है। गाँव, बाज़ार, शहर या महानगर में रहने वाले बच्चे ही नहीं बल्कि विभिन्न भाषाओं के बच्चों की कलाकृतियों में आकृतियों की बनावट में समानता नज़र आती है। एक जैसी बनावट का मतलब–मानवाकृति बनाने के लिए गोल सिर, गोलाकार के भीतर आँख के लिए दो बिंदु, नाक के लिए एक लंबी रेखा एवं मुँह के लिए एक पड़ी-रेखा। शरीर के लिए लंबी आयताकार रेखा। हाथ के लिए दो लंबी रेखाएँ पैर के लिए भी दो बड़ी-बड़ी रेखाएँ। हाथ-पैर की बनावट में भी थोड़ी गोलाई लिए हुई रेखाएँ खींची जाती हैं। इसी तरह पशु बनाने के लिए आयताकार तथा गोलाकार एँव चार लकीर पैरों के लिए तथा एक लकीर पूँछ के लिए। पक्षियों का चित्रण करते समय त्रिकोण तथा गोलाकार रेखाओं का प्रयोग करते हैं। आँख के लिए बिंदु ही बनती है। इसी प्रकार घर, पेड़-पौधा बनाने के लिए सीधी एवं लोचदार रेखाओं का प्रयोग होता है। इसके साथ ही बच्चे जब मिट्टी से जुड़ते हैं तो गीली मिट्टी से बहुत तरह की मूर्तियाँ, खिलौने बनाने लगते हैं। खेल-खेल में मिट्टी के लोदे को पीटते-सानते अपने हाथों से कई प्रकार की अनगढ़ मूर्तियाँ बनाते हैं। मूर्तियों की अनगढ़ता ही बाल कला की मौलिकता होती है। ऐतिहासिक साक्ष्यों को देखें तो आदिम कला की रेखाओं, आकृतियों से इनकी कृतियाँ कुछ हद तक मिलती-जुलती हैं। विभिन्न क्षेत्रों की लोक कला-स्वरूपों से भी इनकी कृतियाँ मिलती-जुलती हैं। एक जैसी दृष्टिगत होती हैं। एक ख़ास उम्र के बाद बच्चों की कलाकृतियों में, आकृतियों की बनावट में शास्त्रीयता आने लगती है। जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तथा कला की विधिवत् शिक्षा ग्रहण करने लगते हैं तो किसी भी चीज़ की आनुपातिक जानकारी उन्हें होने लगती है। आयाम (पर्सपेक्टिव) के अनुसार वे चित्रण करने लगते हैं।



वर्तिका भास्कर, नई दिल्ली

बाल कला सृजन सिर्फ़ साधारण बच्चे ही नहीं करते बल्कि जो बच्चे शारीरिक रूप से अपंग हैं, मूक-बधिर हैं, वे भी अपनी भावनाओं को रंगों-रेखाओं के माध्यम से व्यक्त करते हैं। कई ऐसे बच्चे हैं जो अपंगता के कारण परिवार एवं समाज में अपेक्षित हैं। वे भी इस विधा को अपनाते हैं। उनके लिए यह एक धारधार भाषा भी हैं। वैसे बिन्दु और रेखाओं के तालमेल के कारण ही शब्द बनते हैं। जब बड़े होते हैं और शब्दों की जानकारी उन्हें दी जाती है तो सबसे पहले अ या A से शुरू करते हैं। अ लिखने के लिए एक पड़ी लाइन (-) एवं दो अर्धगोलाकार (3) का प्रयोग करते हैं। इसी तरह A लिखने के लिए दो सीधी लाइन को थोड़ा झुककर ऊपर वाले भाग को सटा देते हैं और बीच में एक पड़ी लाइन का प्रयोग करते हैं। इसी तरह सारे शब्द अंकित होते चले जाते हैं। बच्चे खेल-खेल में ही शब्दों को लिखने लगते हैं। कला के माध्यम से उनकी शिक्षा प्रारंभ हो जाती है। अतएव रेखाओं की महता बहुत है।

बाल चित्रकला की कृतियाँ हमें ख़ास प्रभावित करती हैं। इसके बहुत सारे कारण हैं। एक तो उन्मुक्त कल्पनाशीलता दूसरे उनके विषय वस्तु काफ़ी प्रभावशाली होते हैं। बच्चों की कला का फलक बहुत बड़ा है। विषय को केंद्र में रखकर देखते हैं तो और भी विस्तारित हो जाता है। गाँव से लेकर शहर तक, अमीर से लेकर ग़रीब तक सभी बच्चे अपनी-अपनी तरह से अपनी-अपनी कहानी को उकेरते हैं। अगर हम ग्रामीण बच्चों की कलाकृतियों को देखें तो उसमें गाँव की जीवन शैली स्पष्टत: दिखाई देती है। कहीं लोग श्रम कर रहे हैं तो कहीं खेतों खलिहानों में बच्चे खेल-खेलते हुए नज़र आते हैं। कहीं गाय-भैंस के साथ जीवन-यापन करता बच्चा मस्त है। कहीं लहलहाते खेतों के बीच मचान पर बैठा बूढ़ा व्यक्ति फ़सलों की रखवाली करता हुआ नज़र आता है। कहीं टूटी-फूटी दीवारें नज़र आती हैं तो कहीं माथे पर घड़ा लिए महिला पानी भरने के लिए जा रही है। कुल मिलाकर इनके चित्रों में इनके माहौल एवं परिवेश के अनुसार ही इनकी कल्पनाएँ मूर्त रूप में आई हैं। वहीं जब हम शहरी बच्चों की कलाकृतियों का अवलोकन करते हैं तो अलग रसास्वादन होता है। उनकी कृतियों में आधुनिक तथा अत्याधुनिक उपकरणों या वस्तुओं का समावेश अधिक

पृष्ठ 45 पर जारी..

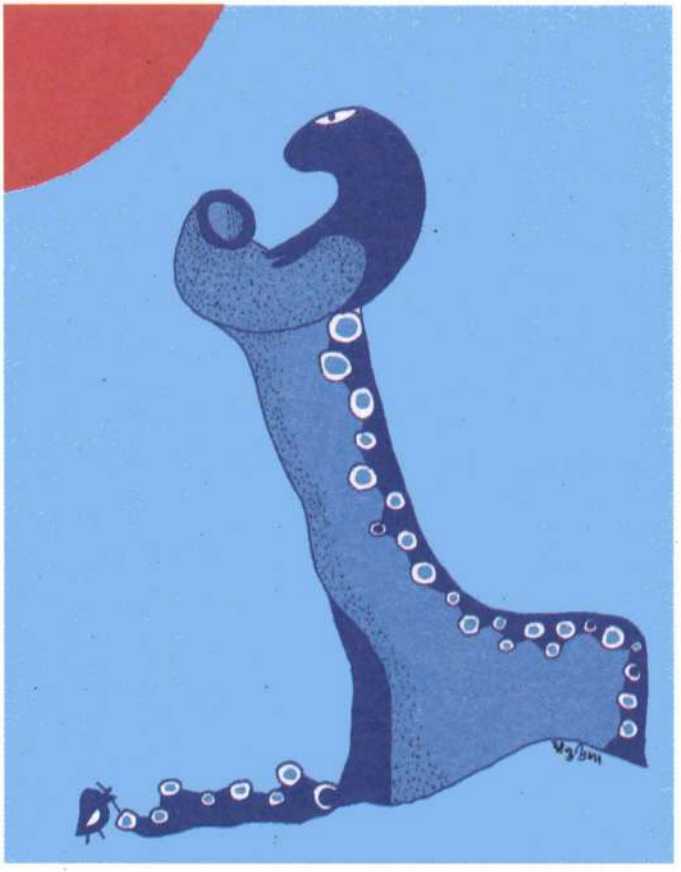
अपना-अपना धर्म

अरुणेन्द्र नाथ वर्मा



जन्म : 5 अप्रैल, 1945, ग़ाज़ीपुर (उ. प्र.)। हिन्दी एवं अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में लेखन। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। छह पुस्तकें प्रकाशित। भारतीय वायु सेना की फ्लाईंग शाखा में विंग कमांडर पद से सेवा निवृत्त।

जज साहब ने मिनटभर के अंदर तीसरी बार पीछे मुड़कर देखा लेकिन क्षणभर से अधिक देखते रहने की हिम्मत नहीं हुई उनकी। हाँ, अपनी चाल ज़रूर तेज़ कर ली उन्होंने। पहली बार शायद छठी इन्द्रिय के इशारे पर चलते-चलते उन्होंने यूँ ही पीछे मुड़कर देखा था। उस पहली नज़र में बस हल्का शक-सा हुआ था। कहीं ये वह तो नहीं है? तभी मन में यह भी आया था कि चुपचाप वहाँ से निकल चलने में ही भलाई थी लेकिन स्वयं को रोकते-रोकते भी दोबारा मुड़ कर उन्होंने देख ही लिया। इस बार शक अनुमान में बदल रहा था फिर तो मन माना नहीं। तीसरी बार फिर देखा और इस बार अनुमान ने किसी बार-बार बात बदलने वाले भाड़े के कच्चे गवाह की तरह अपनी केंचुल बदल ली। अनुमान पक्के भरोसे में बदल गया। वर्षों से अदालत की घिसी-पिटी शब्दावली सुनते-सुनते क़ानूनी शब्द उनकी सोच में अंदर तक पैठ गए थे। तभी उन्हें अपने अंदर से उठती हुई आवाज़ ने सचेत किया कि वह जो सोच रहे थे, सच था, पूरा सच था और सच के सिवा और कुछ नहीं था। इतना ही नहीं, मन की आवाज़ ने शपथ-पत्रों की घिसी-पिटी शब्दावली इस्तेमाल करते हुए यह भी जोड़ दिया "सो हेल्प मी गॉड!"



उन्हें बचपन के एक दोस्त की बात याद आ गई। वह भूत-प्रेत में विश्वास करता था और डरावनी कहानियाँ सुनाना उसका शौक था। उसका कहना था कि अँधेरी रात के सन्नाटे में सूने वीराने में चलते हुए किसी प्रेतात्मा से टकराव की संभावना सताए तो कभी पीछे मुड़ कर नहीं देखना चाहिए वरना सच में उसके दर्शन हो जाते हैं। तब तो अपने संस्कारों के कारण वे उसकी बातों को हँसी में उड़ा देते थे लेकिन असल में उन्हें इस बात की सच्चाई को कभी ठीक से आज़माने का मौक़ा ही नहीं मिला था। अब वो भूली-बिसरी बात अचानक याद आकर उन्हें सताने लगी। स्थिति भूत-प्रेत से कहीं ज़्यादा ख़तरनाक थी और शायद बचपन में मिले उस पाठ को गंभीरता से न लेने का नतीजा थी। ख़ाहमख़ाह उन्होंने बार-बार पीछे मुड़ कर नहीं देखा होता तो क्या पता शायद उस मानवाकृति ने देखा ही नहीं होता जो अब निस्संदेह उनका पीछा कर रही थी लेकिन अगले ही क्षण उनके तार्किक मन को अपने संदेह का खोखलापन समझ में आ गया। वह आकृति न भूत की थी न किसी प्रेत की। सूरज ढलने के बाद शहर से बाहर की उस सूनी सड़क पर उतर आए अँधेरे की झीनी परत में छिपे, उनके पीछे आ रहे उस लंबे-चौड़े इंसान का उनकी चाल तेज़ होते ही अपनी रफ़्तार भी बढ़ा लेना भला केवल एक संयोग कैसे हो सकता था? उसके सादे सफ़ेद कुरते और उटँगी-सी धोती का मटमैलापन सांझ के धुँधलके में घुल-मिल गया था। उसके लिबास में एक साधारण बुंदेलखंडी किसान से अलग करने वाली कोई बात नहीं थी लेकिन सर पर बँधी हुई लाल पगड़ी का ख़ास कोण उसके व्यक्तित्व को बुलंद कर रहा था। जब तक उनके बीच काफ़ी दूरी रही, माथे पर झुकती हुई पगड़ी उसके चेहरे को थोड़ा-बहुत छुपा पाने में सफल रही थी लेकिन जैसे-जैसे वह पास आता गया पगड़ी को छूने की कोशिश करते सघन गलमुच्छे और कानों में लटके हुए कुंडल उसके चेहरे को वही ख़ास पहचान देने लगे जिसे इस सूनी जगह में पास से देखने की उनकी कोई इच्छा नहीं थी।

***संपर्क** : डी-295, सेक्टर-47, नोएडा-201301 (उ.प्र.), मो. 9811631141*

धीरे-धीरे वह और करीब आता जा रहा था, इतना कि उसके दाहिने हाथ में थमे हुए मोटे-से लट्ठ की ज़मीन पर गिरने-उठने से आती लयबद्ध आवाज़ साफ़ सुनाई पड़ने लगी थी। जज साहब के मन में कोई संदेह बाक़ी नहीं रहा कि वह और कोई नहीं बस वही गजराज सिंह था जिसे उन्होंने महीनाभर पहले ही सश्रम आजीवन क़ैद की सज़ा सुनाई थी। सज़ाएँ सुनाते रहना उनका रोज़ का काम था और अपराधी भी उनकी नज़रों के सामने से जाने कितने गुज़र चुके थे लेकिन आसानी से भुलाई जा सके, ऐसी शख़्सियत नहीं थी गजराज सिंह की। उम्रक़ैद की सज़ा सुनकर भी उसके चेहरे पर कोई शिकन नहीं आई थी बल्कि ऐसा लगा था कि एक क्षीण-सी मुस्कान की रेखा उसकी घनी मूँछों को चीर कर बाहर आई थी जिसने बिना शब्दों के घोषित कर दिया था कि अपने किए पर उसे कोई पछतावा नहीं था। जज साहब को उसकी मुस्कान अच्छी नहीं लगी थी। खेत-खलिहान के एक रुटीन पारिवारिक झगड़े में अचानक क्रुद्ध होकर अपने एक दूर के रिश्तेदार की हत्या कर देने वाला वह अपराधी ऐसे घमंड से अपनी सज़ा का उपहास उड़ा रहा था जैसे कोई स्वतंत्रता सेनानी मातृभूमि पर जीवन बलिदान करने की सोचकर गर्वान्वित हो रहा हो।

वर्षों से न्यायपालिका की सेवा में रहते हुए जज साहब को ऐसे अनुभव भी एकाध बार हो चुके थे जब किसी शातिर बदमाश ने सज़ा सुनाई जाने के बाद वहीं भरी अदालत में उन्हें धमकी दी थी और उन्हें अदालत की अवमानना का आरोप भी उसके खाते में डालकर उसकी सज़ा में इज़ाफ़ा करना पड़ा था लेकिन अब तक का उनका अनुभव प्राय: यही रहा था कि गरजने वाले बरसते नहीं। तभी तो जब अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के पद से तरक्की करके ज़िला एवं सत्र न्यायाधीश बनने के लिए बुंदेलखंड के महोबा ज़िले में आकर पदभार ग्रहण करने का आदेश मिला तो उन्होंने पत्नी और इष्ट मित्रों की चेतावनी को हँस कर उड़ा दिया था। पत्नी तो लखनऊ जैसी मनपसंद और आरामदेह जगह छोड़कर जाने के विचार से ही दुखी थीं। इतना तो उन्हें भी मालूम था कि सर्विस के दौरान स्थानांतरण होते ही रहेंगे। फिर भी 'आल्हा-ऊदल' जैसे रणबांकुरों के महोबा में जहाँ बात-बात पर आन-बान के सवाल पर खून-ख़राबा होना सामान्य बात थी वहाँ जज साहब का अपना जीवन कितने ख़तरे में घिर जाएगा, इस कल्पना से ही वह त्रस्त हो गई थीं। अब अचानक गजराज सिंह को अपना पीछा करते देखकर जज साहब की मन की आँखों के सामने क्षणभर में ही वह दृश्य किसी चलचित्र की तरह कौंध गया जब अपनी पत्नी की चिंता को उन्होंने हँसी में उड़ाने का प्रयत्न करते हुए कहा था, "आख़िर किस बात से इतना परेशान हैं आप? चोर-लुटेरों, डकैतों और हत्यारों से निपटते हुए मुझे बीस साल हो गए। आए दिन उन्हें जेल की सलाखों के पीछे भेजता रहता हूँ। अब कौन-सी नई बात हो जाएगी जिससे आप इतना घबरा रही हैं?"

लगभग दो दशकों से हर अच्छे-बुरे क्षण में, हर तरह की ऊँच-नीच में साथ निभा रही अपनी पत्नी से जिस स्वर में उन्होंने यह कहा उसमें उलाहना देने और ढांढस बंधाने का मिला-जुला भाव था। ऐसे ही अवसरों पर वे उनसे 'तुम' की जगह 'आप' कह कर बात करने लगते थे लेकिन इस बार इस औपचारिक संबोधन और उलाहने का कोई ख़ास असर नहीं पड़ा उनकी पत्नी पर।

वह झुंझला कर बोलीं, "यह भी क्या मैं ही बताऊँ कि कौन-सी नई बात हो गई या हो जाएगी। आपके कैरियर के शुरू के दिनों में छोटे-छोटे शहरों में बिताए गए दिनों की बात और थी। उन दिनों थाना-पुलिस, जेल-कचहरी का दबदबा आम आदमी के ऊपर इस तरह से हावी रहता था कि क़ानून व्यवस्था लागू कराने वालों को अपनी सुरक्षा का ख़ौफ़ नहीं सताता था। आज-कल भला कोई किसी से डरता है? ऐसे में राजधानी लखनऊ को छोड़कर उस बीहड़ इलाक़े में जाने के लिए आप क्या सोचकर इतनी ख़ुशी-ख़ुशी तैयार हो गए हैं।"

"ये लो, महोबा को बीहड़ इलाक़ा किस बिना पर घोषित कर दिया आपने? बीहड़ तो उससे लगा हुआ भिंड मौरैना वाला क्षेत्र कहलाता था जहाँ चम्बल के कटाव से बनी ऊबड़-खाबड़ टीलों और घाटियों में डाकुओं का राज था। महोबा तो वीर भूमि है। वहाँ किसी निरीह का खून-ख़राबा करके लूटमार करने का रिवाज नहीं। वहाँ जाकर आल्हा-ऊदल की बहादुरी और स्वामिभक्ति की अमर कहानियों से सराबोर आल्हा गीत सुनेंगी आप तो रोमांचित हो जाएंगी।" जज साहब ने कहा।

"खूब जानती हूँ मैं वह सब। आल्हा-ऊदल मेरे लिए कोई अपरिचित नाम नहीं हैं। कितनी बार सुन चुकी हूँ मैं उनकी गाथा। उनका ध्यान आते ही कानों में गूँजने लगती है वह ललकार 'बड़े लड़ैया महोबा वाले जिनके बल को आर न पार'।

अभी वह कुछ और कहतीं कि जज साहब ने उनकी बात बीच में ही काटकर नाटकीय अंदाज़ में कहा था, "याद है मुझे भी जब हम दोनों ने लखनऊ के उत्तर प्रदेश फ़ेस्टिवल में उन्नाव के प्रसिद्ध लोकगायक लल्लू वाजपेयी से वह आल्हा सुना था। कितने ओज भरे स्वर में गाया था उन्होंने, "जा दिन जनम हुआ आल्हा को धरती धंसी अढाई हाथ'। इतना जोश भरा गायन था वह कि मुर्दे के शरीर में भी खून का संचार कर दे।"

"फिर आप ही बताइए, जहाँ के गीत-संगीत में भी मरना-मारना ही भरा हो वहाँ क़ायदे-कानून की कोई प्रतिष्ठा बची होगी क्या? नहीं चाहिए हमें आपकी तरक़्क़ी, हमारे लिए आपकी सुरक्षा से ज़्यादा ज़रूरी और कोई चीज़ नहीं है।" उनकी पत्नी ने कहा था।

"जिन चंदेल राजपूतों की वीरता के गीत आल्हा के रूप में आज भी बुंदेलखंड के चारों तरफ़ दूर-दूर के इलाकों में गूँज रहे हैं, उन्होंने स्वामिभक्ति, ईमानदारी और कर्त्तव्य परायणता की बेहतरीन मिसालें कायम की थीं। वे अपराधी प्रवृत्ति के ऐसे खूंखार और खूनख़राबा करने वाले लोग नहीं हैं कि जो ज़िला न्यायाधीश अपना कर्त्तव्य ईमानदारी से पूरा कर रहा हो उसी के खून के प्यासे हो जाएँ", जज साहब का उत्तर था। फिर मैं चाहूँगा तो अदालत के अंदर ही नहीं, बाहर भी मेरी निजी सुरक्षा के लिए पुलिस सशस्त्र अंगरक्षक का प्रबंध करेगी, ऐसा अंगरक्षक जो एक छाया की तरह हर समय मेरे साथ रहेगा", उन्होंने पत्नी को ढांढस बंधाया था।

कहाँ उस दिन का आत्मविश्वास और कहाँ इस क्षण का आतंक! विचित्र स्थिति थी कि सर पर सवार आसन्न संकट को भुलाकर जज साहब अतीत की यादों में खो गए, भले कुछ क्षणों के लिए ही सही। शायद तेज़ी से पास आते ख़तरे को नज़रंदाज़ करने का यह अनोखा तरीका उनके अचेतन मन ने ढूँढ निकाला था कि वे उस दिन दिए गए अपने तर्कों पर पश्चाताप करने में खो जाएँ। यह भी ख़्याल आया उन्हें कि अति-आत्मविश्वास का भूत सर पर न चढ़ा हुआ होता तो आज रविवार की शाम वे अपने निजी सुरक्षा अधिकारी (आम चलन में जिसे 'शैडो' कहते हैं) के अनुपस्थित होने पर भी क्या अकेले ही सैर पर निकल पड़े होते? और फिर उनका शैडो अचानक इस तरह से बिना किसी पूर्व सूचना के, बिना किसी एवज़ी का प्रबंध किए चुपचाप अनुपस्थित हुआ भी कैसे? क्या इसके पीछे भी कोई चाल, कोई षड्यंत्र था?

लेकिन अब पछताने से होना भी क्या था। इधर-उधर की तमाम शंकाओं के पीछे भागते अपने मन को उन्होंने कुछ उसी अंदाज़ में डाँट लगाना चाहा जिसमे अदालत में अनुशासनहीन बातचीत का शोर बंद करने के लिए वह ज़ोर से कहते थे, "ऑर्डर! ऑर्डर!" लेकिन अभी तो पासा पलटा हुआ था। जैसे-जैसे पीछे से आते क़दमों की आहट नज़दीक आती गई उनका गला सूखता गया। घबराहट से उनकी ज़ुबान तालू से चिपक गई। सड़क इतनी सूनी थी कि शोर मचाने पर भी किसी से कोई सहायता मिलने की आशा नहीं थी। वह जानते थे कि महोबा के स्थानीय लोगों के मन में अपने रणबाँकुरे पुरखों के प्रति कितना सम्मान था। इतना कि शहर के चौराहे पर स्थापित आल्हा की मूर्ति के सामने से कोई बारात भी गुज़रती तो घोड़ी पर सवार दूल्हा नीचे उतर आता और मूर्ति को नमन करने के बाद ही आगे बढ़ता। अब महोबा वालों का कोई अपना उनसे कोई हिसाब बराबर करने की ताक में हो तो उनके जैसे बाहरी आदमी की मदद के लिए कौन आएगा? कौन रोकना चाहेगा किसी स्थानीय 'लड़वैया' की तलवार को उनके रक्त से प्रतिशोध की प्यास बुझाने को? प्रतिशोध को तो वहाँ एक पावन कर्त्तव्य माना जाता था। कौन इस कर्त्तव्य के पूरा होने में अड़ंगा डालेगा? जज साहब के सर पर ठंडे पसीने की बूँदें चुहचुहा आईं। भागना उनके बस में था नहीं, उनके क़दम और शिथिल पड़ते गए और साँस रोक कर वे पीछे से होने वाले आघात की प्रतीक्षा करने लगे।

अचानक तेज़ी से उनकी तरफ़ बढ़ रहे क़दमों की रफ़्तार कुछ धीमी हो गई। फिर पीछे से आती हुई गंभीर आवाज़ सुनकर वे चौंक गए। वही गर्वोन्मत्त आवाज़ जिसे अदालत में सुन लेने के बाद इतनी जल्दी भूल जाना संभव नहीं था। वह आवाज़ थी गजराज सिंह की जिसे उन्होंने क़त्ल के इलज़ाम में कुछ सप्ताह पहले ही आजीवन कारावास की सज़ा सुनाई थी। उसी आवाज़ में बिलकुल अप्रत्याशित ढंग से जब कहा गया, "पाँव लागूँ जज साहब जी" तो वे बस इतना तय कर पाए कि गजराज उनकी लाचारी का उपहास उड़ा रहा था। वह विस्मय के साथ पीछे मुड़े तो उसी गजराज सिंह को अपने पाँवों में झुकते हुए पाया। वे सहम गए। इतना कि उस नमन के प्रत्युत्तर में उनके मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। निकलता भी क्या। जो भी कहना था अब उस हृष्ट-पुष्ट बुंदेले को ही कहना था। उसने अपनी बात कहने में न देर लगाया न कोई संकोच किया। बेहद विनम्रता से उसने अपने दोनों हाथ जोड़े और बोला, "आप चिंता न करो हुज़ूर। हमें आपसे कौनो शिकायत नहीं। आपने तो हुज़ूर वही कियो जो न्याय की कुर्सी पर बैठ कर आपको करनों हतो।"

जज साहब की जान में जान आई। इतना तो वे समझ ही चुके थे कि किसी होशियार वकील की मदद से गजराज ज़मानत पर छूट गया था। उच्च न्यायालय में अपील करने का इंतज़ाम भी उसने अपनी ज़मीन का कोई टुकड़ा बेचकर कर लिया होगा। उन्हें लगा कि गजराज की आत्मा ने कबूल कर लिया था कि अनावश्यक खून-ख़राबा अच्छी चीज़ नहीं है, वरना जिस गजराज को उन्होंने उम्रक़ैद की सज़ा सुनाई थी वही उनसे ऐसी मुलामियत के साथ कैसे बात करता। इस समय वह बहुत शांत और सहज भाव से बातें कर रहा था। ऐसे में उसे बातों में उलझाए रखकर वहाँ से सकुशल निकल जाने में ही उनकी सारी चतुराई की परीक्षा थी। जज साहब आवाज़ में जितना शहद घोल सकते थे उतना घोल कर बोले, "चलो, ठाकुर। भगवान् की कृपा है कि तुम समझ गए कि बेकार का खून-ख़राबा और बदले की भावना इंसान का धर्म नहीं है। अब मैं और क्या कहूँ!"

गजराज का मुँह खुल गया और भँवें ऊपर चढ़ गईं। लगा कि जज साहब की बात उसे बहुत विचित्र और हास्यास्पद लगी थी। उसने एक ज़बरदस्त ठहाका लगाया। एक बार हँसने से शायद मन नहीं भरा, तभी बात आगे कह सकने की तैयारी करते हुए उसने फिस्स-फिस्स की ध्वनि के साथ अपनी हँसी को दबाया और बोल पड़ा, "धरम सब का एक नहीं होवे है जज साहब। अपना दया-धरम हमको मत सिखावो। आपने जज का धरम निभाय लियो। अभी हमें ठाकुर का धरम निभाना बाक़ी है। जिस सारे ने पहिले हमारे पक्ष में गवाही देने का वादा किया फिर बाद में अदालत में आकर धोखा दे दिया। अभी उसका क़त्ल करना बाकी है। हमारे धरम में तो जे ही लिखो है जज साहब कि जिसका बैरी सुख से सोवे उसका जीवन है धिक्कार! हम तो अपना ही धरम निभावेंगे। हाँ, उसके बाद अगर आपके सामने दुबारा पेश कर दिए गए तो इस बेरी फिर आप अपना दया धरम निभा लेना।"

जज साहब को भौंचक्का देखकर एक बार फिर वही पुरानी मुस्कान उसके मरोड़े हुए गलमुच्छों को चीर कर बाहर आ गई। "अच्छा जज साहब, जय राम जी की" गजराज ने हँसते हुए कहा और जिस दिशा से आया था उसी तरफ मुंह मोड़ कर चलते हुए शाम के धुँधलके में कहीं खो गया।

जज साहब के दिल की धड़कनें जो थम-सी गई थीं, धीरे-धीरे फिर उनके सीने में जी उठीं। जेब से रूमाल निकाल कर माथे पर आया हुआ पसीना उन्होंने पोंछ डाला। वापस घर तक पहुँचने में उन्हें ज्यादा समय नहीं लगा। शहर के शांत इलाके में बने हुए अपने सरकारी आवास में प्रवेश करते ही उन्होंने देख लिया कि उनके स्थायी शैडो की एवज़ी में आया पुलिस कर्मचारी बाहर पोर्टिको में खड़ा उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। उनका अभिवादन कर उसने शायद आने में देर हो जाने के लिए सफ़ाई देना चाही लेकिन वह घर के अंदर आ गए बिना उसकी बात पर ध्यान दिए। अंदर घुसते ही पत्नी ने उलाहना दिया, "कहाँ निकल पड़ते हैं आप अकेले इस ख़तरनाक-सी जगह में। कम से कम एवज़ी में आए इस नए शैडो का तो इंतज़ार कर लेते"।

"अरे वीर भूमि है यह। इतना भयभीत होकर रहना इस मिट्टी का अपमान होगा", उन्होंने कहा और क्रेडल पर रखा हुआ फ़ोन उठा कर कोई नंबर मिलाने लगे।

"अरे चाय तो पी लेते एक कप, ऐसा भी क्या ज़रूरी काम याद आ गया जो तुरंत फ़ोन करने बैठ गए?" उनकी पत्नी ने कहा।

"फ़ोन करना है एसपी को। एक ऐसे मुजरिम के बारे में जो अभी-अभी मेरे सामने घोषणा करके गया है कि उसने किसी का खून करने की क़सम खाई है।"

"क्यों बेकार के पचड़े में पड़ते हैं आप? सिर्फ़ कहा ही है न? लोग आवेश में आकर सौ तरह की बातें करते हैं। हर ऐसी बात खून की धमकी तो नहीं करार दी जा सकती। और कुछ अपनी सुरक्षा की? हम सबकी सुरक्षा की तो सोचिए। क्या ज़रूरत है शेर की मांद में घुसने की?" उनकी पत्नी बोलीं।

"झूठी धमकी नहीं थी। बहुत सोच-समझ कर लिया गया निर्णय है उसका। अपने बैरी को जीवित नहीं छोड़ना वह अपना धर्म समझता है। जाते-जाते मुझे भी कह गया है वह कि न्यायाधीश की हैसियत से अपने धर्म का पालन करने के लिए मैं स्वतंत्र हूँ। अभी-अभी मेरे पैर छूकर गया है वह, लेकिन जाते-जाते एक चुनौती-सी उछाल गया है मेरी तरफ़, यह कहकर कि उसने जो किया वह उसका धर्म था। क़ानून की रक्षा करना यदि मेरा धर्म है तो तुम्हीं बताओ, इस बार अपने धर्म का पालन न करके उसकी नज़रों में गिर जाना क्या बहुत गर्व की बात होगी मेरे लिए? क्या यह इस मिट्टी का अपमान नहीं होगा?" ❑

● तीन कविताएँ : **अरुण शीतांश**



जन्म : 2 नवंबर, 1972 (अरवल ज़िला विष्णुपुरा गाँव)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। तीन कविता-संग्रह सहित कई पुस्तकें प्रकाशित। 'देशज' पत्रिका का संपादन।

ओज़ोन परत

धान की बालियों से उठकर आया है समय
और अब जा बैठेगा धूप में गेहूँ के संग
कुछ चना, खेसारी, तोरी, महुआ के साथ
आ जाएगा किसानों के साथ

किसान का समय नहीं बदलता
और अभी आज़ादी याद आ रही है
और उसके बाद की सरकार

तुरंत बिचड़ा छींटने का समय आ जाएगा
किसान वोट देकर निराश हो जाएगा

कोई सिद्धांत काम नहीं आएगा
सब वैज्ञानिक तरीके से चलेगा
सब पर्व-त्यौहार होंगे

किसान की त्वचा उसी तरह पकी हुई दिखाई देगी जैसे अन्न

देश, कोई अच्छे देश से और बढ़िया
कैसे होगा कि
सुरक्षा हर तरह से महसूसे किसान
एक बार थोड़ी ओज़ोन परत कहीं कमज़ोर हुई थी
वहाँ भी किसान ही कमज़ोर हुआ
ओज़ोन का सर्वोच्च न्यायालय कहाँ बनाया जाएँ ताकि किसानों की आर्थिक आत्मा तृप्त हो सके

सबका नहीं भ्रष्ट तंत्र
हर बार मर रहा है किसान
कुदाल और खुरपी लेकर
अब लाठी भी नसीब नहीं है
एक बार एक कविता की आस में
खेतों की मेड़ों पर
उसने पिस्टल वाले कवि से सुनी
ओस गिरने की आवाज़....!

घर लौटते ही किसान बिन खाए-पिए
सो गया और
सुबह-सुबह हल-बैल के साथ जाने
से पहले मुँह में गुड़ा पानी खाने-पीने
के बदले
मिट्टी का ढेला उठकर खा लिया
विश्व जल के साथ

अब कौन है
किसके साथ ?

सफ़र पानी का

हवा बह रही है
और बारिश हो रही है

हवा बारिश से होकर गुज़र रही है
बारिश हवा को नहलाने की असफल
कोशिश कर रही है

हवा बात कर रही है मंद-मंद
और बारिश बात करती जा रही है संग-संग

हम हवा और बारिश होते जा रहे हैं
बारिश और हवा हम नहीं हो रहे हैं

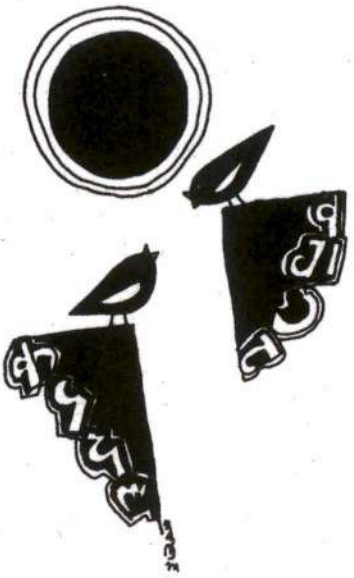
खिड़की की दीवार हमसे भीग रही है
हवा उसे सुखा रही है
बारिश उसे बता रही है।

हवा और बारिश से बने मौसम
बारिश और हवा से सने हम
पहाड़ जा रहे हैं

मैदान से गुज़रने वाली हवा और बारिश
रोज़-रोज़ थोड़ा आना
कल हवा से बात करूँगा
परसो बारिश से

मनुष्य बात करने लायक़ नहीं हैं

एक दिन सोन नदी के कछार पर बैठकर
हवा और बारिश की ताक में रहूँगा
उस दिन हवा ज़ोर से बोलेगी
और बारिश धीरे से कुछ कहती रहेगी



हम हवा और बारिश के भूखे
इंसान हैं
चाहे दुनिया जितनी महान हो..।

तुम्हारे शहर का पता क्या है

क्या वहाँ वृक्ष बचा है
कोई पौधा
कोई फूल

पता क्या है तुम्हारा
क्या वहाँ पानी बचा है
कोई स्कूल
गर्भवती महिला

तुम्हारे शहर का पता क्या है
क्या कोई गाँव बचा है
कोई टोला
शहर को गाँव ने बसाया है
लौट आने की उम्मीद से जल्दी

कुछ नहीं बचा है
बाढ़ के अलावा
फुसबुक पर सुंदर दृश्य के अलावा
यह कविता विधानसभा में पढ़ना चाहते हैं
जब भी कोई वाक्य निकले तो
बाढ़ की हाहाकार सुनाई दे
बच्चों की चीख़
और नींद तोड़ने के लिए
तीन इंच की गोली काफ़ी है
बाढ़ से सटे प्यार करती पत्नी के साथ....।
इसके अलावा कुछ नहीं बचा है
कुछ नहीं
थोड़ा समय बचा है!! ❑

संपर्क : *मणिभवन, संकट मोचन नगर, आरा, भोजपुर-802301, मो. 09431685589*

● तीन कविताएँ : **पंखुरी सिन्हा**



जन्म : 18 जून, 1975 । विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। सात पुस्तकें प्रकाशित। कई देशी-विदेशी भाषाओं में कविताओं का अनुवाद। कई पुरस्कारों से सम्मानित।

दांपत्य वंदन गूँज रहा है

दांपत्य वंदन गूँज रहा है
किसी को नहीं है विरोध
सब हैं प्रेम के कायल

किंतु धर्मांधता जैसी
कोई भी कट्टरता
नहीं होती स्वीकार्य

कि प्रेम बन जाए एक धर्म
और हो पूजा उसकी

पूजनीय हो प्यार
वह हो सबसे ज़रूरी
जीवन में

सबसे उन्नत भाव
मानव मन का
प्रकृति जगत का
किंतु, हो जिसमें पतन की अनंत संभावनाएँ
हर ऊँचाई में होते हैं
पतन के ख़तरे

प्रेम सबसे ज़्यादा शिकार है इसका
प्रेम ही के नाम पर किया गया
महिलाओं को सती
इसी सभ्यता में

प्रेम संबंधों की सबसे सुंदर परिणति
आदमी और जानवर के रिश्ते की भी
जहाँ होता है नियंत्रण का
सबसे ज़्यादा ख़तरा
और प्रेम की सबसे सुंदर
परिणति विवाह
संस्थाएँ बनाती हैं, आदमी को
कुछ हद तक आदमी
और समाज

समाज भी आदमी को
हैवान बनने से रोकता है
लेकिन वह खुद
हर वक़्त होता है
भीड़ बनने के ख़तरे से जूझता

इतने तत्व हैं
इतनी बातें
इतने रस
इतने अवयव
ताक़त सर्वोपरि है

जिसके लिए राजनीति है
खुल्लम-खुल्ला
लेकिन बहुत-सी
छिपी-छिपी राजनीति है
हर कहीं
प्रेम में भी
बल्कि अत्यधिक है राजनीति आज भी
प्रेम के चारों ओर
सामाजिक, सांस्कारिक

मेरे दोस्त, तुम्हारी यह पूजा भी
जो कर सकती है
प्रेम के नाम पर
व्यक्ति और अक्सर
स्त्री की हत्या
केवल प्रेम की राजनीति है..

और वह प्रेम की भी नहीं
विवाह संस्था की राजनीति है
कि वह बनाती रहे
तलाक को दिनानुदिन
कष्टप्रद, दुखद
त्रासद
और इसलिए अवांछित
और इस तरह बचाती
दर्शाती रहे विवाह में
प्रेम का उत्सव...।

संपर्क *: ए-204, प्रकृति अपार्टमेंट्स, सेक्टर-6, प्लॉट नं. 26, द्वारका, नई दिल्ली-110075, मो. 8527144715*



प्यार हारता है

प्यार हारता है
जीतती है नीति
आस्था, विश्वास, परंपरा
वो सब बातें जिससे चलती है दुनिया
प्यार हारता है
जैसे हारे पीठ पर वार न करने वाला योद्धा
ये अलग बात है
कि हार कभी-कभी जीत से ऊँची होती है।

जिया हुआ प्यार

प्यार बहस है
मेरे तुम्हारे बीच की
शर्त कि कोई तीसरा न आए
प्यार सबकुछ जो तय नहीं
चौंकना भी पाकर
उसे घर में अचानक
बातें
काटकर कुछ अपना वक़्त
बिना रज़ामंदी
तुम्हारी पसंद की सब्ज़ी
तुम्हारे आने का इंतज़ार
प्यार उन्नीदी शाम
ऊँघती रात
अफ़रातफ़री की सुबहें
प्यार ढेरो ढेर थकान
जिया हुआ प्यार फ़र्क़
सिर्फ़ किए हुए से। ❑

● पाँच कविताएँ : **अनामिका अनु**



जन्म : तिरूवनंतपुरम, (केरल)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविता, कहानी, अनुवाद प्रकाशित।

चाहों को अलविदा

तुम हरी थी
मैं शुष्क रंग था भूरा-सा
कुछ तितली उड़ रही थी माथे में तेरे
और पेट में मेरे
एक कौवा टहनी पर प्रशांत बैठा
ताक रहा था भूरे को निर्निमेष
हरी ने सरकायी ओट
नारंगी उम्मीद के फूल ने झाँका
पर समय की प्रशांत छवि में एक
काली आशंका थी
सोच-समझ कर हरी खड़ी रही
वक़्त की टहनी हिली
धराशायी भूरा
मिट्टी चूम रहा था
स्वयं के रंग से मिलने का सुख
सपनों की सरकती दीवार से झाँकती चाहों
को अलविदा।

वे बच्चे

वे बच्चे जो पेंसिल छिलते रहते हैं
डस्टबिन के पास
जो कक्षा में होकर भी अलग-सी दुनिया
में होते हैं
खुद से बातें करते
दूसरी दुनिया के चक्कर काटते ये बच्चे
अनछुए रह जाते हैं उस ज्ञान से
जिसे हम हर राज़ परोसते हैं
आसमान सबका होता है
ये सच भी है और
तय भी
ये बच्चे अपना आसमान स्वयं गढ़ते हैं
फिर उस पर हीरों-सा चमक उठते हैं
इनके आसमान में न चाँद होता है, न बादल
बाक़ी बच्चे तारों की भीड़ बन
उस आसमान में टँगे रहते हैं
जिसे सिखाने वालों ने गढ़ा है
यहाँ चाँद भी होता है
जिसे ये तारे निहारा करते हैं
बादल भी होते हैं
जो इन्हें झाँपते-उघाड़ते रहते हैं।

कोई भी महीना चुन लो

फिर आएगा सितंबर
वह नहीं होगा
न होगी उसकी वह खुमारी
पुरुषों ने खुमारी में
क्या-क्या नहीं कहा है स्त्रियों को
और इन्होंने उनके हर कहे
को सच, वचन, धर्म, ज्ञान मान-मान कर
क्या-क्या नहीं किया है?
सिंदूर, बिंदी, फेरे तक तो ठीक भी था
पर कोठों पर बैठी और कचरे में पाई गई
लाशों का क्या?
ये सुनाएँगी सितंबर की कहानी, अपनी
ज़ुबानी,
सितंबर नहीं तो कोई भी महीना अपने दर्द का
चुन लो
अगस्त कैसा रहेगा?

पिता

पिता का कोई रंग नहीं होता,
जैसे पसीने और पानी का नहीं होता
पसीने में गंध होती है,
पिता की भी होती है
वात्सल्य की सोंधी खुशबू के साथ मेहनत
की झांस लिए
पिता पानी!
बेटी में मिलकर शरबत,
बेटे में मिलकर छाछ
कुम्हलाए थके उनके चेहरे
में अनंत आश्रवस्ति!
पिता कितना ख़ास?
जितनी खुशियाँ और साँस

पिता की पदचाप होती है,
जो दूर से सुनाई दे जाती है,
सीढ़ियों पर चढ़ रहे होते हैं
और हम दौड़ कर दरवाज़ा खोल देते हैं
बिना झाँके-ताके,
पिता की पदचाप ध्वनिश्चः याद है आज भी!

लिखावट में क़सीदें-सी बुनावट होती है,
आज भी लिखे पन्नों को सहला कर
वो बुनावट महसूस करता हूँ,
पिता के कहे में तुलसी रस, अदरक और
शहद होता है
सुना जब तक, बीमार नहीं पड़ा तब तक
आजकल अस्पतालों के चक्कर काट रहा हूँ,
पिता थे तो आराम से रहता था,
आज कल घर खूब थक कर आ रहा हूँ,

पिता व्यवस्था होते हैं
जाने के बाद बहुत याद आती है
वह व्यवस्था और वह आश्वस्ति!

इंक़लाब

केंचुए की तरह रेंगता रहता है
नसों में बेचैन करने वाली खुदबुदी,
जैसे टीन के छप्पर पर बूँद-बूँद पानी का
अनवरत टपकना,
एक दर्द नाभि से उठकर छाती तक आती है
हरे पत्तों पर मिट्टी और सीमेंट की परतें,
काली तितलियाँ और गुलाबी घर,
मौन से मुक्ति की कोशिश,
ज़फ़र का याद आना
और तुम्हारी आँखों की कविता
को तकिए पर बुलाते हम,
चिथड़े से ढँकते चिथड़े तन को,
कंठ में स्वर नहीं, आँखें चीख़ रही हैं।
कहना, बोलना ज़रूरी है, जनाब भी जानते हैं,
पर हिल न जाए सल्तनत
चमड़े की चाबुक निकालते हैं
कंठ में एक हीरा है गड़ रहा,
दहाड़ मार उगला है अभी-अभी
सारी बंद खिड़कियाँ खुल गईं
और आँखों में हीरे की चमक झाँक रही है
इंक़लाब हर जीर्ण सोच और
उसके कसमस से!
इंक़लाब!!! ❑

***संपर्क** : 'अनामिका विला', 31, श्रीनागर, कावू लेन, वल्लाकदावू पो.ओ., त्रिवेंद्रम-695008 (केरल), मो. 8075845170*

● दो कविताएँ : रंजिता सिंह 'फ़लक'



विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। सामाजिक कार्यों में भी सक्रिय। कई पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति : 'कविकुंभ' पत्रिका में संपादक पद पर कार्यरत।

बिसराई गईं बहनें

बिसराई गईं बहनें
और भुलाई गईं बेटियाँ
नहीं बिसार पातीं मायके की देहरी

हालांकि जानती हैं
इस गोधन में नहीं गाए जाएँगे
उनके नाम से भैया के गीत
फिर भी
अपने आँगन में
कूटती हैं गोधन, गाती हैं गीत
अशीषती हैं बाप-भाई जिला-जवार को
और देती हैं
लंबी उम्र की दुआएँ

बिसराई गईं बहनें
और भुलाई गईं बेटियाँ
हर साल लगन के मौसम में
जोहती हैं
न्योते का संदेश
जो वर्षों से नहीं आए उनके दरवाज़े
फिर भी
मायके की किसी पुरानी सखी से
चुपचाप बतिया कर
जान लेती हैं
कौन-से
भाई-भतीजे का
तिलक-छेंका होना है?

कौन-सी बहन-भतीजी की
सगाई होनी है?
गाँव-मोहल्ले की
कौन-सी नई बहू सबसे सुंदर है
और कौन-सी बिटिया
किस गाँव ब्याही गई है?

बिसराई गईं बहनें
और भुलाई गईं बेटियाँ
कभी-कभी
भरे बाज़ार में ठिठकती हैं,
देखती हैं बार-बार
मुड़कर
मुस्कुराना चाहती हैं
पर
एक उदास ख़ामोशी लिए
चुपचाप
घर की ओर चल देती हैं,
जब
दूर का कोई भाई-भतीजा
मिलकर भी फेर लेता है नज़र,

बिसराई गईं बहनें
और भुलाई गईं बेटियाँ
अपने बच्चों को
खूब सुनाना चाहती हैं
नाना-नानी, मामा-मौसी के क़िस्से
पर
फिर संभल कर बदल देती हैं बात
और सुनाने लगती हैं
परियों और दैत्यों की कहानियाँ।

औरतों के दुख

बड़े अशुभ होते हैं,
औरतों के दुख
और उनका रोना
बड़ा ही अपशकुन,
दादी शाम को
घर के आँगन में
लगी मजलिस में,
बैठी तमाम बुआ, चाची, दीदी, भाभी
और बाई से लेकर हजामिन तक की
पूरी की पूरी टोली को बताती
औरतों के सुख और दुख का इतिहास
समझाती सबर करना
अपने भाग्य पर
विधि का लेखा कौन टाले
जो होता है अच्छे के लिए होता है
सुनी थी उसने अपने मायके में कभी
भगवत कथा
थोड़ा-बहुत पढ़ा 'रामायण' और 'गीता' भी
फिर पढ़ने से ज़्यादा सुनने लगी
क्योंकि ज़्यादा पढ़ लेने से
बुद्धि ख़राब हो जाती है
औरतों की
पूछा था उसने भी कभी अपनी दादी से
की ज़्यादा पढ़ के ख़ाली औरतों की
बुद्धि क्यों ख़राब होती है?
मर्दों की काहे नहीं
तभी डपट के खिंची गई थी उनकी कान
और फूँका गया था एक मंत्र
औरतों को नहीं पूछने चाहिए कोई सवाल
ज़िंदगी ख़राब होती है
नहीं पूछने चाहिए कैसे शुरू होता
कोई भी प्रश्न
जैसे
क्यों गए?
कहाँ गए?
क्यों नहीं बताया?
कब आओगे?
ऐसे हर सवाल से लगती है
अच्छे-भले घर में आग
औरत को मुँह बंद और
दिमाग़ ख़ाली रखना चाहिए
इससे होती है बरकत
बसता है सुखी संसार
आते हैं देव
विराजती है लक्ष्मी
दिमाग़ के सांकल बंद रखो
सारे सवाल मन के ताल में डूबा दो
सारी शिकायतें दिमाग़ की देहरी पर छोड़ दो
और हाँ, मन की कुंडी भी लगा लियो ज़ोर से
ना सुनना कभी सपनों की कोई आहट
सफ़ेद रखो मन की स्लेट
ना गढ़ो कोई तस्वीर
और किसी अभागी रात जो देख लो
कोई चेहरा तो तुरंत मिटा दो
आँख खुलते ही
सालों बाद अब जबकि
बदली है हर बात बदला समाज
खूब बोलने-सोचने और सपने देखने लगी है
हमारी जात
फिर भी आज भी हमारे मर्द नहीं भूले
दादी अब तक तेरी हर बात
अब भी उनके दिमाग़ में ज़ेहन में अटकी है
शायद तेरी वही बात
अब भी वो चाहते हैं
हमारा वही होना
जिसका दुख सीने में दफ़न किए
तुमने चिरविदा ली थी। ❑

***संपर्क** : 348/1, सिरमौर मार्ग, देहरादून-248001(उत्तराखंड)*
मो. 7409969078, 7983168101

दलित-जीवन-विमर्श और अर्जुन कवि

शंभु गुप्त



जन्म : 1954 (राजस्थान)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। तीस वर्षों से आलोचना में सक्रिय। 9 पुस्तकें प्रकाशित। महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र) में स्त्री अध्ययन विभाग में प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष पद पर आठ वर्ष कार्यरत रहने के बाद सेवानिवृत्त। कई पुरस्कारों से सम्मानित।

अर्जुन कवि के कुछ दोहे मेरी पुस्तक 'मैंने तो दुनिया पढ़ी' में संकलित एवं प्रस्तुत हैं। इनमें कुछ पुराने हैं तो कुछ अब तक अप्रकाशित भी हैं। अर्जुन कवि के अगाध दोहा-भण्डार में से कुछ का चयन बहुत बड़ी टेढ़ी खीर है।

अर्जुन कवि के इन दोहों की सबसे पहली शिल्पगत विशेषता यह है कि ये पाठक के साथ रचनाकार के एक बेहतर संवाद की बानगी प्रस्तुत करते हैं। यह संवाद बेहद आत्मीय और अपनेपन से भरा है और इसका मक़सद है, लोगों के बीच फैले भ्रमों, ग़लत मान्यताओं, धारणाओं, सोच इत्यादि का निवारण। कोई चाहे तो इसे बड़े आराम से समाज-सुधार की संज्ञा दे सकता है लेकिन अर्जुन कवि कोई लेबिल अपनी रचनाओं पर नहीं चिपकाना चाहते। यह वस्तुतः उनकी दिनचर्या, उनके व्यवहार, उनके अध्यवसाय का स्वाभाविक हिस्सा रहा है। वे अपने एक दोहे में लिखते हैं कि मैं तो दरअसल मात्र साक्षर हूँ, एक तरह से अनपढ़ ही हूँ लेकिन मैं इस दुनिया में फैले विशाल जन-गण को पढ़ता हूँ, मेरी पढ़ाई-लिखाई की विषयवस्तु यही विशाल जन-समुदाय है। मैं लोगों को पढ़ता हूँ, इसलिए जानता हूँ कि वे किन समस्याओं से जूझ रहे हैं और उनका निदान क्या है?



अर्जुन अनपढ़ आदमी, पढ़यौ न काहू ज्ञान।
मैंने तौ दुनिया पढ़ी, जन-मन लिखूँ निदान।। (3)
अर्जुन अक्षर आदमी, विद्या सकल समाज।
लिखा-पढ़ी इनमें करूँ, जन-चेतन आवाज।। (510)

इस जन-संवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सत्य का पक्षधर है लेकिन सत्य ऐसा या इस तरह कहा हुआ कि जो कड़वा न लगे। संस्कृत-कवि भारवि ने अपने एक नाटक में बहुत पहले यह कहा था 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'। यानी एक ऐसी बात जो हितकारी (सच्ची) भी हो और सुनने में मनोहर भी (यानी कड़वी न लगे) वस्तुतः मुश्किल से ही उपलब्ध होती है। अर्जुन कवि शुरुआत तो यहीं से करते हैं कि वे 'सुंदर सत्य' (1) का बख़ान करे लेकिन धीरे-धीरे जैसे-जैसे दुनिया की उनकी पढ़ाई आगे बढ़ती है, राजनीति, सत्ता, पूँजी, समाज-व्यवस्था, धर्म इत्यादि की अंदरूनी सच्चाइयाँ और अमानवीय दुरभि संधियाँ उनके सामने एक-एक कर खुलती चलती हैं। उनकी वाणी तुर्श से तुर्श होती चलती है। वे किसी को नहीं बख़्शते। सुंदर सत्य कहने के स्थान पर वे नंगी सच्चाइयाँ उजागर करने लगते हैं; अब इसके लपेटे में जो आ जाए! यहाँ तक कि वे अपने सबसे नज़दीक अपने उस पी.डब्ल्यू.डी. विभाग और उसके इंजिनियरों-अभियंताओं को भी आईना दिखाने से नहीं चूकते, जिन्हें दंभ है कि इन बड़ी-बड़ी इमारतों के संरक्षक वे हैं! अर्जुन कवि इन इमारतों की संरचना, वास्तुकला मूलक सुंदरता, मज़बूती इत्यादि का श्रेय उन कारीगरों-कामगारों को देते हैं जो रात-दिन एक करके इनके निर्माण में लगे रहते हैं। अर्जुन कवि पी.डब्ल्यू.डी. विभाग के ठेकेदार थे और उनकी रोज़ी-रोटी इसी से चलती थी लेकिन जब मूल्यों और सभ्यता-निर्माण के श्रेय की बात आती है तो वे एकदम निर्भीक होकर यह कहने से नहीं चूकते-

उत्पादक की साख है, जग पहचान हजार।
चन्दा पै तो दीखती, खड़ी चीन दीवार।। (32)

अभियन्ता सुधरे नहीं, लँगड़ी डिगरी पाय।
बैसाखी कारीगरैं, इन बिन चला न जाय।। (86)
अभियन्ता डिगरी बड़ी, रचौं कागजी फूल।
महक महल तब देत है, गढ़ि कारीगर मूल।। (387)

यह असल में कारीगर-कामगार वर्ग के प्रति अंधश्रद्धा अंधजनवाद के तहत नहीं है बल्कि हक़ीक़त यह है कि कारीगर-कामगार वर्ग ही असल उत्पादक-वर्ग और इस सभ्यता का सर्जक है। यह चाहे मिथकीय संदर्भ ही सही कि हम कहते हैं कि यह पृथ्वी किसके सिर पर टिकी है। हिन्दू पुराणों में न जाने किस-किस के फन, थूथन, पीठ, सिर, सींग आदि पर इस पृथ्वी को टिका हुआ बताया गया है लेकिन पृथ्वी पर सभ्यता के विकास पृथ्वी की रक्षा-सुरक्षा उसके प्रति सच्ची संबद्धता का संवाहक यदि कोई है तो वह यही कारीगर-कामगार-किसान वर्ग है, जो अपनी जान की बाज़ी लगाकर इसका संपोषण करता चलता है।

***संपर्क** : 21, सुभाष नगर, एनईबी, अग्रसेन सर्किल के पास, अलवर-301001*
मो. 8600552663

अर्जुन कवि ने अनेक दोहों में उन ब्राह्मणवादी पौराणिक मिथकों का पुरज़ोर खंडन किया है जिनका उल्लेख हमने पहले किया और जिन पर पृथ्वी का भार टिका होना कहा गया है। देवताओं, पीर-फ़क़ीरों, पैग़ंबरों से भी पृथ्वी का भार नहीं उठाया जा सकता। अर्जुन कवि साफ़ तौर पर कहते हैं कि इस पृथ्वी का भार दरअसल श्रमशील किसान-कामगार तबकों के कंधों पर है, यह पृथ्वी उन्हीं के सिर पर टिकी है। दरअसल एक यही वर्ग है, जो पृथ्वी के भार को ढोने की क्षमता रखता है-

पैगम्बर अवतार से, उठै न जग कौ भार।
राज मज़ब विद्या धनै, जग में दिना उतार।। (75)
अर्जुन सब संसार कौ, सीस श्रम के भार।
राज मजहब विद्या धनैं, देवत भूत हजार।। (227)
राजन! देवत मूँड पै, धरी पृथवी नाँय।
भार श्रम के सीस पै, प्राणदान फल ग्घाय।। (238)

इन दोहों में कवि स्पष्ट करता है कि राज्य, धर्म, पूँजी इत्यादि को यदि यह गुमान है कि इस दुनिया को, इस देश को वे चला रहे हैं तो यह उनका भ्रम है। मूलत: इस दुनिया और देश का भार श्रमशील तबकों के कंधों पर है। एक दोहे में अर्जुन कवि ने लिखा है कि वह अकेला श्रमशील वर्ग ही है, जो इस दुनिया को चला रहा है लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि यह वर्ग भारी शोषण और पराधीनता का शिकार है। इसकी स्थिति गाड़ी में जुते उस घोड़े-जैसी है जिसके मुँह में लगाम डली हो और जो लगातार चाबुक खाता चलता है-

मेहनतकस घोड़े कसे, मुँह पर डली लगाम।
खैंचौ गाड़ी गाम की, चाबुक खाय गुलाम।। (204)

अर्जुन कवि अपने अनेकानेक दोहों में इस मेहनतकश तबक़े का बहुत बारीकी से और एक-एक बिंदु को उठाते हुए यथार्थांकन करते हैं। उनकी सबसे पहली स्थापना यह है कि यह जो श्रमशील वर्ग है, इसका लगभग सारा हिस्सा दलितों से ताल्लुक रखता है। इस संबंध में मुद्राराक्षस की इस मान्यता को वे आगे बढ़ाते हैं कि 'शूद्र ही मज़दूर हैं, शूद्र आंदोलन ही वास्तविक मज़दूर आंदोलन है (धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ्य साहित्य उपक्रम तृतीय संस्करण 2009; पृ.130)।

अपने इन दोहों में अर्जुन कवि सचमुच ही दलितों के एक बड़े प्रवक्ता, पैरोकार, प्रतिनिधि, प्रतिरोधी रचनाकार के रूप में उपस्थित होते हैं। उनका एक-एक दोहा इस संदर्भ में एक तरह का वैचारिक आंदोलन है। उनके दोहों की विषय-वस्तु चाहे जो हो, उसका एक अनिवार्य या केंद्रीय संदर्भ या अभिप्राय दलित-जीवन और स्थितियाँ-परिस्थितियाँ हैं। वे चाहे जिस विषय को उठाएँ, चाहे जिस विषय पर दोहा लिखे। उसका मुख्य संधान दलित वर्ग होता है। इसलिए इन दोहों को पढ़ चुकने के बाद यह एक बलवती धारणा पाठक की बनती है कि दलित-संकेंद्रण अर्जुन कवि का मुख्य ध्येय या उपलक्ष्य रहा है। दलित-दृष्टि उनकी रचनाशीलता का प्रस्थान-बिंदु है।

दलित-दृष्टि एक व्यापक अवधारणा है, जिसके अंतर्गत आंबेडकरवाद के साथ-साथ मार्क्सवाद की भी अंतर्भुक्ति है। दलित-दृष्टि जातिवादी संदृष्टि नहीं है बल्कि यह एक विश्वजनीन जनोन्मुख मानवतावादी दृष्टि है। दलित-दृष्टि की विस्तृत पहचान के लिए कंवल भारती की पुस्तक 'दलित विमर्श की भूमिका' (इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद-2004) देखी जा सकती है।

हम देखते हैं कि अर्जुन कवि आंबेडकरवाद और मार्क्सवाद दोनों का संयुक्त संवहन अपने दोहों में करते हैं। जैसे कि निम्नलिखित दोहों में वे पूँजी और जाति के अंतर्संबंधों का पुनरावलोकन करते हैं। यह यहाँ याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है, सभी भली-भाँति जानते हैं कि 'मनुस्मृति' में पूँजी और जाति के बीच के संबंधों पर अनेकानेक निर्देश अंकित हैं जिनमें कहा गया है कि शूद्र को पूँजी रखने, उसका स्वामी बनने का कोई अधिकार नहीं है। यदि वह ऐसा करता है तो बेखटके उसकी संपत्ति छीन लेनी चाहिए। भारत में जातिवाद के आधार पर पूँजी का वितरण, संचयन, संवहन देखा जा सकता है। शूद्र कही जाने वाली जातियाँ अधिकांशत: निर्धन और आर्थिक तौर पर विपन्न-दरिद्र अवस्था में ही मिलेंगी। अर्जुन कवि अपने दोहों में इस बात को उठाते हैं कि दलितों की ग़रीबी के पीछे कहीं-न-कहीं जातिवाद का हाथ अवश्य है-

जग में जातीवाद की, गहरी खुदी सुरंग।
दौलत दाना-मिल्ट-सी, दुनिया फुँकै कुसंग।। (352)
खीर खून में पक रही, चढ़ा विश्व का देग।
जातिवाद भट्टी जलै, मनख-मनख खा सेक।। (504)
अर्जुन या संसार में, वे ही मोर कहायँ।
चमकै कंचन पीठ पै, पग ना देखे जायँ।। (446)

उत्पादक, उत्पादन, बाज़ार, लूट-खसोट, मुनाफ़ा, विनिमय दर, मूल्य, मुद्रा आदि की बार-बार और पर्याप्त गहरे जाकर अर्जुन कवि चर्चा करते हैं। उत्पादक-वर्ग पर अनगिनत दोहों की रचना उन्होंने की है। उत्पादक-वर्ग अर्थात् कामगार, शिल्पी, मज़दूर, किसान तथा अन्य श्रमशील तबक़े। अर्जुन कवि का स्पष्ट मत है कि इस उत्पादक-वर्ग का अधिकाँश जन-समूह दलित जातियों से ताल्लुक रखता है। उत्पादक-वर्ग की ग़रीबी लूट-खसोट, उपेक्षा, पिछड़ेपन, अभावग्रस्तता, अन्याय, शोषण तथा उन पर की जाती हिंसा इत्यादि का कारण मूलत: जातिवाद है। इस शोषण-प्रक्रिया में राज्य (राज्य की आर्थिक तथा अन्य नीतियाँ), धर्म-तंत्र, पूँजीपति-वर्ग ये सब शामिल हैं। अर्जुन कवि का एक बहुत ही ज़बर्दस्त दोहा है जिसमें वे कहते हैं कि उत्पादक की बलि-हत्या का जश्न मनाया जा रहा है। हमारे यहाँ पूँजीपति-वर्ग उत्पादक वर्ग के खून से नहाता है। राजा उसकी बोटी-बोटी काटकर धर्म-तंत्र से जुड़े लोगों-फ़क़ीर इत्यादि को देता चलता है-

उत्पादक के खून सौं, अर्जुन न्हायँ अमीर।
राजन बिनके मांस कूँ, देवै दान फकीर।। (138)

इस दोहे की शिल्प-शक्ति देखते ही बनती है, जहाँ इतने कम शब्दों में राज्य, पूँजी और धर्म के जनविरोधी और मेहनतकश-विरोधी गठजोड़ को इतने प्रभावशाली तरीके से अभिव्यक्त किया गया है कि सारी स्थिति तुरंत सुस्पष्ट हो जाती है। वर्तमान कथित जनतंत्र का असल स्वरूप भी उजागर होने लगता है। कवि संकेत से बताता है कि पूँजीपति-वर्ग के शोषण-चक्र की मौजूदा प्रक्रिया जिसमें राज्य और धर्म दोनों ही संस्थाएँ सहयोगी भूमिका में हैं; इतनी निर्मम और हिंसक हैं कि जैसे कोई किसी के खून में नहाए! अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जैसे कोई किसी के खून से होली खेले! वास्तव में भूमंडलीकृत परिस्थितियों में शोषण का स्वरूप इतना ही हद दर्जे का हिंसक और हत्यारा हो गया है। अर्जुन कवि की अंतर्दृष्टि बारीकी से इसे पहचानती चली है। पूँजी, राज्य और धर्म का गठबंधन कैसे उत्पादक-वर्ग-किसान मज़दूर को नेस्तनाबूद कर रहा है, इसकी एक और प्रभावशाली अभिव्यक्ति निम्नलिखित दोहे में अर्जुन कवि ने की है-

बाज चिरइया ले उड़ाए राजन बचा न पाय।
पंख उखाड़ै सामने, बैठ मुकुट पै खाय।।
यदो अक्षर सौ ज्ञान (410)

उत्पादक-वर्ग का एक तरह से गुणानुवाद-सा अपने दोहों में अर्जुन कवि करते हैं। कृषक और श्रमिक इस उत्पादक-वर्ग के दो

सर्वप्रमुख घटक हैं। इनमें भी कृषक-वर्ग में बड़े भूपति किसानों के स्थान पर छोटे किसानों की पैरवी वे करते हैं। यह वह छोटा किसान है, जो अकाल, बाढ़ पाला इत्यादि सबकी चपेट में आता है लेकिन फिर भी लेवी से उसे मुक्ति नहीं मिलती। सारा देश भ्रष्टाचार में डूबा हुआ है, ऐसे में यदि सब से ख़राब स्थिति किसी की है तो वह यह किसान ही है जो सबका अन्नदाता है। यही अन्नदाता इस समय आत्महत्या करने को मजबूर है-

जोत बोय खुद काटताए कूड़ मोर दे नीर।
अर्जुन असल किसान है बाकी भाँति फ़क़ीर।। (226)
पाखण्डी सरपंच हैं, ढोल पोल पिरधान।
मंत्र मंतरी फूँकते, कारे परे किसान।। (440)
भूखे मरैं अकाल में लेवी देन किसान। (447)

अर्जुन कवि बार-बार इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि देश की अर्थव्यवस्था दो वर्गों के सहारे चल रही है- एक है श्रमिक और दूसरा है किसान। यह कैसी शर्मनाक स्थिति है कि सबसे ज़्यादा ख़राब हालत इन्हीं लोगों की है-

पैसा दो के बल चलै, तीजे पास न धूल।
भोजन वस्त्र मकान दे, कृषक श्रमिक मूल।। (492)

कृषक और श्रमिक के इन दो वर्गों पर लिखते-लिखते जन-कवि अर्जुन लाल की लेखनी एक शानदार ऊँचाई प्राप्त करती है। अपनी अद्‌भुत प्रतिभाएँ दो-टूक जीवन-दृष्टि और भविष्यगामी संकल्प-शक्ति के तहत वे चले आते कथित भारतीय काव्यशास्त्र के परंपरागत रसवाद में हस्तक्षेप करते हैं और पूरी 'स-व्यवस्था' को चुनौती देते हुए इसके मूल उत्स को रेखांकित करते हैं। इस पूरी रस-व्यवस्था का मूल उत्स है- 'श्रम रस'। 'श्रम' नामक एक नए रस की प्रस्तावना अर्जुन कवि के इन दोहों व उनमें निहित जीवन-दृष्टि का सत्व है। 'श्रम रस' के मूल में श्रम-संस्कृति का भाव निहित है और श्रम-संस्कृति का अर्थ है- इस देश के बहुसंख्यक श्रमशील तबक़ों, किसानों, श्रमिकों, शिल्पियों, कामगारों आदि का जीवन-दर्शन। यहाँ यह पुनः याद दिलाना ज़रूरी है कि इन तबकों का अधिकांश हिस्सा दलित जातियों से बनता है। अर्जुन कवि के ये दोहे दलित केंद्रीय इसी अर्थ में हैं।

श्रम रस का संबंध इस देश की अधिसंख्य आबादी-जो कि श्रमशील हैं और जो दलित जातियों से जुड़ी है- के जीवन-दर्शन, जीवन-चर्या, सामाजिक व्यवहार, व्यक्तिगत आचरण इत्यादि से है। अन्य रसों की तरह श्रम एक 'स' मात्र नहीं है बल्कि उसकी जड़ें जीवन-आचरण में अंतर्निहित हैं। यों तो प्रायः प्रत्येक रस का संबंध जीवन के किसी न किसी आचरण, भाव, संवेदन इत्यादि से ही होता है लेकिन यदि एक अन्य दृष्टि से इनकी अभिव्याख्या की जाए तो पता चलता है कि वस्तुतः संघर्षशीलता नहीं। बल्कि एक प्रकार का श्रमहीन आनंदवाद इस पूरी 'स-व्यवस्था' में निहित है।

काव्यशास्त्र के परंपरागत नौ चर्वणीय रसों के स्थान पर और उनसे आगे अर्जुन कवि 'श्रम रस' नाम के एक नए रस की स्थापना की प्रस्तावना करते हैं। इनमें भी भक्ति, वीर और शृंगार जैसे कथित 'सर्वप्रधान' रसों से अर्जुन कवि को सख़्त एतराज़ है। उनका तर्क है कि भक्ति, वीर, शृंगार आदि रसों का संवर्द्धन, पोषण श्रम रस के मार्फ़त ही होता है। इस तर्क से श्रम रस मूलभूत केंद्रीय या सर्वप्रमुख रस है-

अर्जुन या संसार में, मेहनत रस परिधान।
भगती वीर सिंगार हूए पलते सकल जहान।।

अर्जुन कवि का यह कथन कि भक्ति, वीर, शृंगार का पालनहार श्रम है, उनकी बद्धमूल जनवादी जीवन-दृष्टि का संकेत देता है। हिन्दी कविता में यह संभवतः पहली बार है कि कोई कवि रस-संरचना पर इस तरह बात कर रहा हो। धर्म, राज्य, समाज इत्यादि समस्त संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ मेहनतकश वर्ग की पीठ पर खड़ी हैं। यानी कि श्रम और श्रमशील जनसमुदाय ही वह मूल और आधारभूत संरचना है जिस पर सारी अधिरचना खड़ी है। अर्जुन कवि इस मुद्दे पर बार-बार लौटकर आते हैं और तरह-तरह से इसे संरचित करते हैं। इस संबंध में उनके ये दोहे ध्यान दिए जाने योग्य हैं-

मेहनत रस के सामने, सब रस धूरि समान। प्राणदान शक्ती रखै, साहित में पिरधान।। (177)
सिरम तत्व वा रस बिना, है कथनी लाचार।
बिना पुरुष के कामिनी, साहित बाँझ विचार।। (59)
ईश्वर श्रम से पूछता, तू क्यों पूजै देव।
धन घर भोजन चीर तू, तो क्या दे महादेव।। (106)

अर्जुन कवि श्रम तत्व को पंच-तत्व (पृथ्वी, जल, आकाश आदि) का बाप कहते हैं। उनका मत है कि पिता की तरह श्रम तत्व इन समस्त तत्वों, दरअसल इस समस्त भौतिक सृष्टि, जो इन पाँचों तत्वों के मेल से बनी है, का परिपालन करता है। श्रम तत्व के बिना ये पाँचों तत्व अर्थात् यह सृष्टि एक कदम आगे नहीं बढ़ सकती। 'बाप' यहाँ सिरमौर या मुख्य के अर्थ में भी आया है-

पंच तत्व कौ बाप है श्रम तत्व प्रधान।
या के बिन वे ना फलें, भूखौ मरै जहान।। (100)

इस पूरे प्रकरण में सबसे केंद्रीय बात, यह है कि मनुष्य-समाज का वह तबका, जो श्रम से जुड़ा हुआ है श्रमशील है। अधिकांशतः दलित जातियों से आता है। ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था के तहत मेहनत और उत्पादन का काम करने वाले कामगारों-शिल्पियों को शूद्र घोषित किया गया। इतिहास के क्रम में यह जघन्य व्यवस्था की गई इस संबंध में मुद्राराक्षस का यह कथन उद्धरणीय है- "ब्राह्मण कोई परिश्रम का काम नहीं करेगा" वह सिर्फ़ पढ़े-पढ़ाएगा, यज्ञ करेगा और राजा को सलाह देगा। क्षत्रिय भी कोई काम नहीं करेगा सिर्फ़ लड़ता रहेगा और वैश्य उस सामान को मुनाफ़े के साथ ख़रीदे-बेचेगा जो शूद्र बनाएँगे। बाक़ी हर मेहनत और उत्पादन का काम सिर्फ़ शूद्र करेगा और इसके लिए अपमानजनक सामाजिक स्थिति में रहेगा।" ('धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ', पृ. 120)। इस क्रम में बेगार और मुफ़्तख़ोरी की व्यवस्था एवं प्रावधान भी सामने आए। ब्राह्मणों ने इन कथित शूद्रों-जो कि समाज का शिल्पी-कामगार समुदाय, उत्पादक-वर्ग था- के विरुद्ध ऐसी सांघातिक चाल चली कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी बेगार और अपना उत्पाद मुफ़्त में कथित उच्च वर्णों को अर्पित कर देने की एक परंपरा ही बन गई मुद्राराक्षस लिखते हैं– राजाओं को यह समझाना ब्राह्मण के लिए बिल्कुल कठिन नहीं था कि वह मेहनत और कारीगरी का उत्पादक श्रम करने वालों को इस तरह मजबूर करे कि कामगार मुफ़्त सेवा करे और अपना उत्पाद बिना कीमत लिए राजा व्यापारी और ब्राह्मण को अर्पित करे। राजा के पास चूँकि शस्त्र-शक्ति होती है इसलिए कामगार समाज से दासता करा लेना उसके लिए आसान रहा होगा।" (वही, पृष्ठ 124)।

अपने दोहों में अर्जुन कवि बार-बार इस तथ्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं कि हमारे यहाँ मेहनतकश लोगों, कामगारों, उत्पादक-वर्ग से जुड़े लोगों की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति बेहद ही चिंताजनक और संकटाकीर्ण है। एक तरफ़ तो वे इस तथ्य की स्थापना करते हैं कि मेहनतकश वर्ग इस दुनिया में सबसे ज़्यादा दुखी और विपन्न है तो दूसरी तरफ़ यह भी प्रतिपादित करते हैं कि उत्पादक के उत्पादन का सही-सही मूल्य उत्पादक को नहीं मिलता,

बाज़ार की ताकतें तथा अन्य लोग ज़्यादातर उन्हें लूटते ही हैं।

अर्जुन कवि लिखते हैं–

धन घर भोजन चीर कूँ, रचि उत्पादक लाय।
अर्जुन बेच बजार में, ठग क्या मूल चुकाय।। (218)

धन घर भोजन चीर कौ, क्या दे मूल्य बजार।
ठग पहले भोजन ठगै, फिर धन नम्बरवार।। (219)

धन घर भोजन चीर ही अर्जुन खुद में मूल।
बेचौ काम बजार में, लुटि उतपादक भूल।। (388)

ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था की श्रमशील तबक़ों के साथ की गई सबसे बड़ी धोखाधड़ी यह थी कि उसने इन तबक़ों से उनका श्रेय, उनकी अस्मिता की पहचान के सूत्र यानी कि श्रम काए उत्पादन का, उत्पादन के श्रेय का अपहरण कर लिया। इस दुनिया की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ जिस श्रमशील तबके के नाम होनी चाहिए थीं, वे उसके नाम न होकर, इन्होंने चुपके से अपने नाम करा लीं। अर्जुन कवि अपने एक दोहे में साफ़-साफ़ लिखते हैं-

धन घर भोजन चीर तौ, उत्पादक के काम।
राज मजब विद्या विधी, लिखे आपने नाम।। (513)

एक और दोहे में उन्होंने लिखा कि श्रमशीलता ही मानो उत्पादक वर्ग के लिए उसकी सबसे बड़ी कमी और कमज़ोरी बन गई है-

अर्जुन पढ़ते आदमी, गुनते हैं पाखण्ड।
धन घर भोजन चीर कौ, उतपादक सिर दण्ड।। (304)

यह सचमुच इतिहास की सबसे दुर्भाग्यपूर्ण और शर्मनाक घटना है कि जिन लोगों के कंधों पर मनुष्य-सभ्यता के निर्माण, निर्वाह, विकास आदि का श्रेय और गौरव होना चाहिए था उन्हें यहाँ शूद्र घोषित किया गया और गुलाम बनाया गया।

उनके दोहों में मनुष्यों की दो कोटियाँ दिखाई देती हैं। एक वे जो श्रमशील हैं, अपनी मेहनत का खाते हैं, जीवन में निरंतर संघर्षरत रहते हैं और दूसरे वे, जो दूसरे की मेहनत पर जिंदा हैं, दूसरे का कमाया खाते हैं, परजीवी हैं। अन्य शब्दों में 'हराम' की खाते हैं! एक 'लेबर क्लास' है तो दूसरी 'लेज़र क्लास'। एक अपने काम में रात-दिन खटते रहने वाला और दूसरा मुफ़्तख़ोर और रात-दिन चैन की बंसी बजाते रहने वाला! अर्जुन कवि का एक बहुत ही दमदार और शानदार दोहा है जिसमें वे कहते हैं कि आज दरअसल एक ऐसा समय चल रहा है जिसमें लोगों में काम करने की होड़ कहीं, किसी में दिखाई नहीं देती-

होड़ काम की ना लगी, लागी होड़ हराम।
चुगते उल्लू रात में, करैं दिना बिसराम।। (126)

अर्जुन कवि अपने दोहों में अनेकानेक ऐसे प्रतीक और प्रतिदर्श लाते हैं जो इन दोनों प्रकार के लोगों-श्रमजीवी व परजीवी- के द्योतक हैं। जैसे जरख, मृग, मीन, चिड़िया, बया, स्वान, भैंसा, बकरा, बकरी या गाय, बुलबुल, सीप इत्यादि। ये वे हैं, जो अपनी कमाई खाते हैं। श्रमशील हैं।

दूसरी तरफ़ शेर, हाथी, मच्छर, खटमल, अजगर, बगुला, चींटा-चींटी, वानर-दल, बगुला, साँप आदि हैं, जो दूसरे के श्रम पर जीवित होते हैं। जैसे अजगर के बारे में कवि लिखता है-

लिखगे आस हराम की, राम नाम के नाम।
अजगर खैंचौ खात है करे न काहू काम।। (345)

यहाँ मलूकदास के उस प्रसिद्ध दोहे को याद किया जाए जिसमें उन्होंने लिखा था, "अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए, सबके दाता राम"। ईश्वर के नाम पर हरामीपन का यह महिमामंडन अद्‌भुत है! अर्जुन कवि पुरज़ोर शब्दों में इसका विरोध करते हैं।

उक्त प्रतीक-विधान में जातिवादी रूपकात्मकता अंतर्निहित है। जाति के साथ शक्ति और सत्ता का सहमेल है। शेर, हाथी, अजगर कथित उच्च जातियों के प्रतीक माने जा सकते हैं। वे सत्ता और शक्ति से लैस हैं। दूसरी ओर जरख, मृग, मीन, चिड़िया, बया, बकरा, गाय, सीप जैसे निरीह और निःशक्तजन हैं, जो काम तो करते ही हैं। प्रताड़ित भी किए जाते हैं। ऊपर मुद्राराक्षस के हवाले से जो यह कहा गया कि ब्राह्मण ने यह व्यवस्था दी कि शूद्र-कामगार-शिल्पी श्रम भी करेगा और अपमानजनक सामाजिक स्थिति में भी रहेगा। अर्जुन कवि के दोहों में इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से उजागर हुआ है। जैसे अर्जुन कवि का यह निम्नलिखित दोहा–

दीन कमेरा वर्ग है लात कमर पै खाय।
जरख भाँति लचकै चलै, तीनों पन पछताय।। (182)

अर्जुन कवि श्रमशील तबके के सबसे बड़े प्रतिनिधि मज़दूर और किसान की खूब-खूब चर्चा अपने दोहों में करते हैं। मज़दूर तो मज़दूर है ही। किसान भी मूलतः यहाँ खेतिहर मज़दूर ही है या छोटा किसान है जो इस व्यवस्था में धीरे-धीरे किसान से मज़दूर होता चलता है। अर्जुन कवि ने अपने एक दोहे में इन दोनों के लिए 'बँधुआ' शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट होता है कि किसान यहाँ कोई बड़ा, ज़मींदार किसान नहीं है बल्कि छोटी जोत वाला मज़दूर-जैसा ही किसान है। कहना न होगा कि दलित वर्ग से जुड़े किसान इसी तरह के छोटी जोत के किसान ही होते हैं। उनकी स्थिति बँधुआ से बेहतर नहीं। कवि देश की स्वतंत्रता के संदर्भ में किसान-मज़दूर की बात यहाँ करता है। कवि कहता है कि देश की आज़ादी का अर्थ है देश के मेहनतकश समुदाय की आज़ादी जबकि वे तो एक तरह से बँधुआ बने हुए हैं। बिना उनकी नियति से उन्हें मुक्त किए इस देश को एक स्वतंत्र राष्ट्र नहीं कहा जा सकता-

आज़ादी संसार की, सिरमिक और किसान।
धन घर भोजन चीर दे, उन बँधुआ पहचान।। (मैंने पढ़ा समाज/297)

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अर्जुन कवि अपने निवास-क्षेत्र के खान मज़दूरों की आर्थिक, सामाजिक दुर्दशा का अपने दोहों व अन्य काव्य-रूपों में बहुविध वर्णन करते हैं। वे जिस इलाक़े में रहे- राजस्थान राज्य का करौली क़स्बा/जिला- वहाँ लाल पत्थर की खानें पाई जाती हैं जिनमें हज़ारों की संख्या में मज़दूर काम करते हैं। इन्हें 'खनिया' कहकर पुकारा जाता है। इन खनियों की दो विशेष पहचान हैं। एक तो यह कि ये लगभग सारे के सारे दलित वर्ग (विशेषतः चमार जाति) से जुड़े हैं और दूसरी यह कि ये अधिकांशतः बँधुआ हैं। यह हो सकता है कि क़ानूनी शिकंजे से बचने के लिए पुराने अर्थों में अब ये बँधुआ न रहे हों या न कहलाएँ किंतु वास्तविक स्थितियों में ज़्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है। इनकी जीवन-स्थितियाँ लगभग पहले जैसी हैं। इनकी जीवन-स्थितियों पर अर्जुन कवि ने लोक-शैली में 'खनिया बारहमासी' की रचना की जिसमें वर्ष-पर्यंत चलने वाले इनके जीवन-क्रम के ब्यौरे हैं। इन खान मजदूरों का जीवन अत्यंत दूभर और त्रासद स्थितियों से भरा है।

खनिया पत्थर फोड़ते, पत्थर से बनि जायँ।
आप धूप में सूखते, छाया और सुलायँ।। (399)

अर्जुन कवि आगे एक नृत्तवशास्त्रीय तथ्य उजागर करते हैं कि निरंतर दबाव, शोषण, बंधन, पराधीनता, पीड़ा, अभाव, अत्याचार,

पृष्ठ 51 पर जारी..

समकालीनता का प्रश्न

(संदर्भ बिक्रम सिंह की कहानियाँ)

नीरज कुमार मिश्र



जन्म : बाँदा (उत्तर प्रदेश)। युवा आलोचक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख और समीक्षा प्रकाशित। 'अज्ञेय के उपन्यास : स्त्री प्रश्न और परिप्रेक्ष्य' पुस्तक प्रकाशित।

इधर समकालीन हिन्दी कहानी के पूरे परिदृश्य को देखने से एक बात साफ़ दिखाई देती है कि इस दौर के कहानीकारों ने अपने समय को, समाज में हो रहे परिवर्तनों को एवं विकास के बदलते स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कहानी की दुनिया रची है। अब सवाल ये है कि कहानीकार अपने समय के बदलावों से उपजे तनावों को किस तरह अपनी कहानियों में लाता है। 'समकालीन' शब्द को एक निश्चित समय के ढाँचे में बाँधकर नहीं देखा जाना चाहिए। कहानी में 'समकालीन' संदर्भ की चर्चा करते हुए कहानी आलोचक मधुरेश ने लिखा है, "समकालीन होने का अर्थ सिर्फ़ समय के बीच होने से नहीं है। समकालीन होने का अर्थ है, समय के वैचारिक और रचनात्मक दबाव को झेलते हुए उनसे उत्पन्न तनावों और टकराहटों के बीच अपनी सर्जनशीलता द्वारा अपने होने को प्रभावित करना।" नई कहानी के बाद समकालीन कहानी का चेहरा उन बदलावों के बाद बहुत कुछ बदला हुआ-सा दिखाई देता है। इस बदलाव को कहानीकार बिक्रम सिंह ने कितना आत्मसात् किया है, यह उनकी कहानियों से गुज़रते हुए ही पता चलेगा।

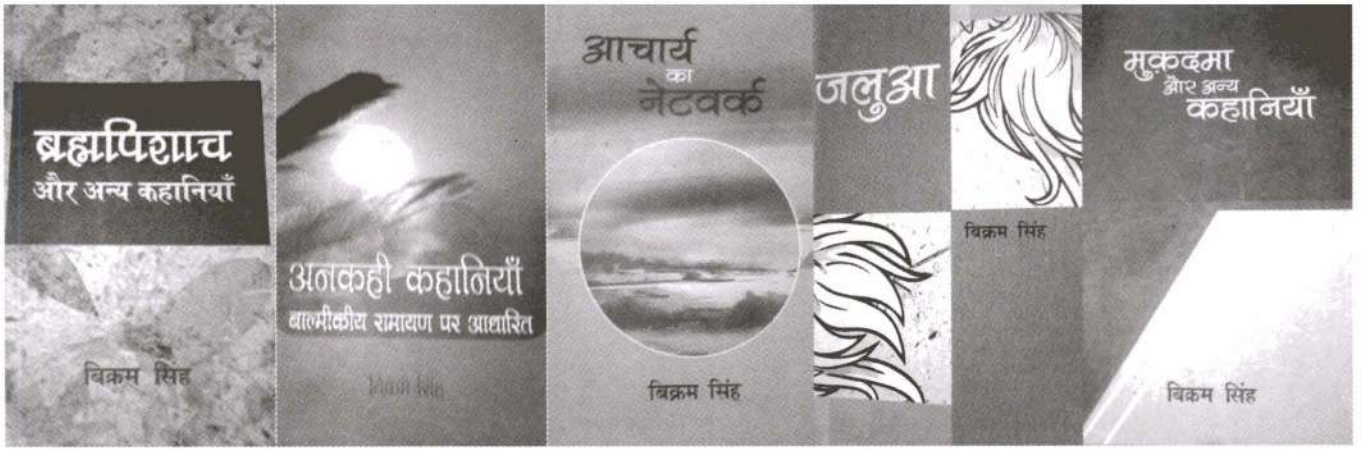


कहानीकार बिक्रम सिंह के पाँच कहानी-संग्रह एक साथ प्रकाशित हुए हैं–'ब्रह्मपिशाच और अन्य कहानियाँ', 'आचार्य का नेटवर्क', 'जलुआ', 'मुकदमा' और 'अनकही कहानियाँ' (बाल्मीकीय रामायण पर आधारित है।) इन संग्रहों में कुल 81 कहानियाँ हैं। एक साथ इतने कहानी-संग्रहों का आना लेखक की प्रतिबद्धता को दर्शाता है। इससे एक भ्रम भी टूटता है कि यदि कोई प्रत्यक्ष रूप से साहित्यिक सक्रियता में भागेदारी न करता हो तो आप ये न समझें कि वह कुछ रच नहीं रहा होगा। बिक्रम सिंह हमेशा इस भ्रम को तोड़ते हैं। वैसे 'ब्रह्मपिशाच और अन्य कहानियाँ' संग्रह पहली बार सन् 1993 में 'एक समय की बात' नाम से प्रकाशित हुआ था।

समकालीन कहानी का पाठक कहानी में कहानीपन के क्षय, भाषा और शैली में ज़रूरत से ज़्यादा हो रहे प्रयोग, कथानक में अनावश्यक विस्तार और यादगार चरित्रों की कमी को लगातार महसूस कर रहा है। इसी वजह से कहानी एकरसता का शिकार हो जाती है। यह एकरसता ही पाठक के अंदर कहानी के प्रति नीरसता पैदा करती है जिससे कहानी का पाठक कहानी से दूर होता जाता जबकि होना ये चाहिए कि कहानीकार अपना एक प्रतिसंसार रचे और पाठक उसकी विश्वसनीयता की परख करे। किसी कहानीकार के रचनात्मक अनुभव से पाठक किस प्रकार जुड़ पाया है, यही उस कहानीकार और कहानी की सार्थकता है। बिक्रम सिंह की कहानियाँ एकरसता से मुक्त हैं। इसी वजह से इनकी कहानियाँ नई ताज़गी का अहसास कराती हैं। इनकी कहानियों ने एक नया संसार रचा है जिसमें समाज का प्रत्येक वर्ग किसी न किसी रूप में आया है। इस नए रचना-संसार को रचने में कहानीकार कई मोर्चों पर संघर्ष करता है। बिक्रम सिंह जलुआ कहानी-संग्रह की भूमिका में इस बात को रेखांकित करते हैं-"कहानी अंततः ऐसी कलात्मक बुनावट है। कथाकार को तमाम अल्पांशों के साथ तथा उनसे संबद्ध तमाम संयमित-नियंत्रित विस्तारों से गुज़रते हुए अपने लक्ष्यार्थ तक पहुँचना होता है। कथानक की बहुआयामिता को प्रकटतः एकआयामी प्रतीत कराने के लिए अपने अनुभव तंत्र से पग-पग पर जूझना पड़ता है"।

समाज का कोई भी वर्ग जिस भी रूप में शोषण का शिकार है। वे सारे रूप सजीव होकर बिक्रम सिंह की कहानियों में आते हैं। इन्होंने समाज और साहित्य के सभी ज्वलंत विषयों को अपनी कहानियों का विषय बनाया है जिससे कहानियों के संवेदनात्मक तार पाठकों से जुड़ते प्रतीत होते हैं। अबतक बाल मज़दूरी पर अनेक कहानियाँ लिखी गईं। 'उद्भावना' पत्रिका ने 'बाल श्रम विशेषांक' में बाल श्रमिकों की स्थिति का बेहद मार्मिक वर्णन किया है। उनका किस तरह से मानसिक और शारीरिक शोषण होता है, इसको बिक्रम सिंह की कहानी 'पंचर' में भली-भांति देखा जा सकता है। आर्थिक विपन्नता की वजह से रमुआ का पूरा घर पंचर है। पिता के न रहने से परिवार की पूरी ज़िम्मेदारी रमुआ के कंधों पर है। यही आर्थिक मजबूरियाँ ही बाल श्रमिकों के शोषण का कारण बनती हैं। बाल श्रम और बंधुआ मज़दूरी पर भले ही सरकारों न रोक लगा रखी हो, लेकिन इन पर शोषण बदस्तूर जारी है। 'जमुनवा' कहानी का जमुनवा, 'लतखोर', कहानी का बबन और 'मगर से बैर क्यों' कहानी का सूबा ऐसी ही बंधुवई ज़िंदगी जीने को मजबूर हैं। इनको इस बंधुआ मज़दूरी के एवज़ में केवल मानसिक और शारीरिक यातना ही मिलती है। इन पात्रों में इस शोषण के ख़िलाफ़

***संपर्क** : 305, उपराही मोहल्ला गली, वसंत कुंज रोड, महिपालपुर, नई दिल्ली-110037, मो. 9968323683*



प्रतिकार के स्वर उभरते तो हैं लेकिन भूख के सामने वो इससे समझौता कर लेते हैं। खेतिहर मज़दूर, कमजोत वाले किसान, निम्न-मध्यवर्गीय युवाओं की बेरोज़गारी, स्त्री कामगारों की स्थिति तथा महानगरों में घुटन भरी ज़िंदगी जीने को अभिशप्त सामान्य परिवारों के अनेक रूप, अपनी यथार्थता और तात्कालिकता के साथ इनकी कहानियों में आते हैं।

बिक्रम सिंह की अधिकांश कहानियाँ मूलत: गाँव की कहानियाँ हैं। यही वजह है कि इनकी कहानियों में गाँव अपने गंवई परिवेश में बसा हुआ है। इनकी चिंताएँ और समस्याएँ सभी गाँवों की हैं। इनकी ग्रामीण जीवन की कहानियाँ हमें प्रेमचंद और रेणु के सामाजिक चित्रण की याद दिलाती हैं। आत्मकथात्मक शैली में लिखी गई 'जलुआ' कहानी गंवई परिवेश की सशक्त कहानी है। जब गाँवों से बारातें जाती हैं तो उसके बाद उस गाँव की औरतें जलुआ खेलती हैं। इस कहानी में जोखन बीघा गाँव के जो मर्द अपनी पत्नियों को छोड़कर शहर कमाने गए, वो अबतक वापस नहीं आए। ये कहानी काम की तलाश में गाँव से शहर की तरफ़ हो रहे विस्थापन की समस्या को उजागर करती है। बिक्रम सिंह ने इस कहानी में मालती जैसी अनेक स्त्रियों के दर्द और उनके अनुभवों को बहुत संतुलित भाषा के माध्यम से दर्शाया है। इनकी कहानियों के अंदर अपना एक लोकतंत्र दिखता है। 'जलुआ' और 'बंद किवाड़ों के पीछे' दोनों की नायिकाएँ अपने नायकों को मुक्त करती हैं। लोकतंत्र में ये अधिकार है कि आप किसे चुने किसे न चुने। इन कहानियों की नायिकाएँ अपना लोकतंत्र खुद रचती हैं। मुक्ति की चाहत स्त्री-विमर्श की पहली और ज़रूरी माँग है। 'ब्रह्मपिशाच' कहानी की लछमीना मुसमात है। यही उसके शोषण का कारण बनता है। उसका शारीरिक और मानसिक शोषण केवल उस गाँव के लोग ही नहीं करते बल्कि अपने स्वार्थ में अंधी सतकालो जैसी स्त्री भी करती है।

दलित चेतना के साथ समकालीन कथाकारों का अपना एक रिश्ता रहा है। कहानीकार बिक्रम सिंह को दलित जीवन के प्रामाणिक अनुभव भले न हों, लेकिन इस लेखक ने उस आँच को बखूबी अनुभव किया है। इनकी 'बासी' कहानी इसी आँच की उपज है जो ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' की याद दिलाती है। रमेसर को उसकी मेहनत के एवज़ में बासी पूड़ी मिली थी। उसका मन इस सम्मान से गद्‌गद् हो गया। पूड़ी खाते उसके पिता ने कहा, "रमेसरा, सुनता है। ..सूख गई हैं। ढेंका में कूटकर बुकनी बना लो। दू-चार दिन नास्ता में चलेगा।" इनकी अनेक कहानियों में दलितों के बहुरूपीय शोषण के सच्चे चित्र उभर कर आते हैं।

आज 45 साल में सबसे ज़्यादा बेरोज़गारी दर बढ़ी है। ये समस्या आज और विकराल हो गई है। 'योग्यता' और 'चाचा नामधारी' जैसी अनेक कहानियाँ इसी समस्या को उजागर करती हैं। इन कहानियों का मानवीय मामूलीपन बहुत अपना-सा लगता है। इन कहानियों ने बेरोज़गारी जैसे गंभीर विषय को उठाया है। समाज के मामूली प्रसंग भी किसी कहानी की आत्मा बन जाते हैं। कहानीकर बिक्रम सिंह के शब्दों में कहूँ कि "कहानी किसी बड़े विषय को कथानक में रोपने की कला नहीं है। कभी कोई शब्द, कोई वाक्यांश, कोई मामूली प्रसंग कहानी की आत्मा को जगाने के लिए पर्याप्त लगते हैं। यदि कहानीकार के पास सचमुच कुछ कहने के लिए है तो मामूली कथावस्तु में समकाल स्वत: उपस्थित हो जाता है।" 'योग्यता' कहानी में समकाल स्वत: उपस्थित हो गया है। इसीलिए इस कहानी का दर्द पाठक को अपना दर्द परिलक्षित होता है। हम सभी जानते हैं कि अधिकाँश पदों में चयन योग्यता के अनुसार नहीं बल्कि अदृश्य शक्तियों के आदेश पर होता है। यदि अदृश्य शक्तियाँ अपने किसी प्रिय का चयन नहीं करवा पातीं तो चयन प्रक्रिया रद्द कर दी जाती है। आप किस गुट और विचारधारा से संबंधित हैं, यह चयन का सबसे बड़ा मापदंड है। 'योग्यता' कहानी का पात्र परशुराम इस चयन-प्रक्रिया का शिकार हो जाता है। हमारे जैसे कितने परशुराम विश्वविद्यालय में बैठे इन मेहरों और रामदीनों के शिकार होते हैं। ये कहानी हमारी शिक्षा व्यवस्था से लेकर चयन प्रक्रियाओं में हो रही धांधलियों पर तीखा व्यंग्य करती है। बिक्रमजी की हर कहानी ऐसे ही किसी-न-किसी गंभीर विषय से टकराती है। 'चाचा नामधारी' कहानी बेरोज़गारी के इस दौर में आधुनिक जीवन के आर्थिक तनावों से पागल होते आमजन की गाथा है। आज न जाने कितने बेरोज़गार चाचा नामधारी बनने की कतार में हैं। इनकी जोड़-घटाव कहानी निम्न-मध्यमवर्गीय परिवार के एक मात्र नौकरीपेशा आदमी की स्थिति को बयां करती है। परिवार ठीक से चलता रहे इसलिए इस कहानी का पात्र एक-एक पाई के जोड़-घटाव में लगा है।

किसी कहानी की पठनीयता उसका निर्णायक पक्ष नहीं होती लेकिन पठनीयता कहानी के लिए ज़रूरी भी है, पर उससे भी ज़्यादा ज़रूरी चीज़ ये है कि कोई कहानी, कहानी बन पाई या नहीं। अत: देखना ये चाहिए कि वह कहानी हमें किसी महत्वपूर्ण विचार बिंदु तक ले जा रही है या नहीं। ये विचार बिंदु ही मनुष्यता को बचाने के लिए ज़रूरी हैं। बिक्रम सिंह की अनेक कहानियाँ इन विचार बिंदुओं तक पहुँची हुई दिखती हैं। 'दूर देश का राजा' इस लिहाज़ से एक अच्छी कहानी है। ये कहानी संकेत करती है कि आज मनुष्य केवल बिकने लायक वस्तु बनकर रह गया है। यही वजह है कि आज मनुष्यता का संकट और गहरा गया है। यह कहानी इन विचारों को बहुत सशक्त ढंग से उठाती है। कहानी वही है जो कहानीपन को लिए हो। उसका कहन ही उसे अच्छी कहानी बनाता है। कहन मतलब सीधे कहना। कोई कहानी विचार के धरातल पर भले ही खरी न उतरे, लेकिन उसे कहानीपन के धरातल पर खरा उतरना चाहिए। यही कहानी का सबसे जरूरी तत्त्व है। इसीलिए नामवर सिंह कहानीपन पर ज़ोर देते हैं, "कहानी के कहानीपन की सफलता का अर्थ है उसकी अर्थवत्ता या सार्थकता। नए कहानीकार कहानी की इस शक्ति से भली-भाँति परिचित

हैं।" बिक्रम सिंह सजग कहानीकार हैं। वह इस शक्ति को पहचानते हैं। तभी इनकी बहुत-सी कहानी इस धरातल पर खरी उतरी हैं। सही मायने में कहानी कहने और सुनने वाली विधा है। 'आचार्य का नेटवर्क' संग्रह की भूमिका में कहानीकार इस बात की ओर इशारा करता चलता है कि "कहानी सुनने-सुनाने की चीज है। जब हम कोई कहानी पढ़ते भी हैं तो असल में सुन ही रहे होते हैं। ऐसे में सुनाने वाला कलाकारी दिखाने लगे तो पाठक खीजता है क्योंकि वह प्रयोग की बानगी देखने नहीं आता, बल्कि रचनाकार से कुछ ऐसा सुनना चाहता है, जिससे वह अल्प परिचित हो। कुछ ऐसा जो उसके अनुभव तंत्र में शामिल रहा हो, किंतु उसने उसे कभी गंभीरता से न लिया हो।" कहानी की सार्थकता उसी में है कि कहानी सुनने वाले के अंदर कोई झुरझुराहट पैदा हुई कि नहीं।

बिक्रम सिंह के इन संग्रहों की कहानियाँ जितनी महत्वपूर्ण हैं उतनी ही इन संग्रहों की भूमिका भी महत्वपूर्ण हैं। बिक्रम सिंह की ये कहानियाँ लंबे अर्से के स्वाध्याय और निरंतर कथा चिंतन से ही उपजी हैं।

इनकी कहानियाँ के पात्रों में नए समाज गढ़ने की लालसा देखी जा सकती है। यही वजह है न्यायपूर्ण व्यवस्था की चाह रखने वाले उनके पात्र सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था से हर मोर्चे पर टकराते नज़र आते हैं। 'मुक़दमा' कहानी का मुकुंदीलाल इन व्यवस्थाओं का शिकार है। उसके भविष्य का रास्ता कानून की उन किताबों ने बंद कर दिया है जिनके अंदर सत्य, अहिंसा, मानवता, प्रेम, शांति और सद्भाव समाहित हैं। आम आदमी को जब इनकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है तो ये अन्याय जिधर है उधर शक्ति की भांति अन्याय की तरफ़ खड़ी नज़र आती हैं। आज समाज में कितने मुकुंदीलाल इसका शिकार हो रहे हैं। पिछले कुछ दशकों में जिस तरह धर्मांधता और जातिगत वैमनस्यता ने समाज में ज़हर घोला है उसका असर हर जगह मिल जाएगा। बिक्रम सिंह की कहानी 'बतंगड़' इस ओर इशारा करती है कि इस भागमभाग वाली ज़िंदगी में लोगों का धैर्य खोता जा रहा है। वर्षों से जाति और धर्म के नाम पर दबा गुस्सा छोटी-छोटी बातों से बतंगड़ बन जाता है।

इनके अंतिम संग्रह की कहानियों ने कहानी के मिज़ाज को नया रूप दिया है। मैथिलीशरण गुप्त ने जिस तरह उपेक्षित पात्र उर्मिला के महत्व को समझा और उसे साहित्य में प्रतिष्ठित किया। अभी कविता के क्षेत्र में कवि पवन करण ने 'महाभारत' और 'रामायण' के हाशिए में पड़े पात्रों पर कविताएँ लिखीं और उन्हें 'स्त्री शतक' में संकलित किया है। कहानी विधा में इस कहानीकार ने भी अब तक उपेक्षित रहे प्रसंगों और पात्रों को अपने इस संग्रह में जगह दी है। यही वजह है कि इस संग्रह की बहुत-सी कहानियाँ 'महाभारत' और 'रामायण' के बीच आवाजाही करती दिखती हैं। इस संग्रह में उपेक्षित पात्रों और प्रसंगों को एक स्वतंत्र कथा इकाई के रूप में विकसित किया गया है और साथ ही ये प्रयास किया गया है कि वे सब कहानी विधा की आधुनिक तकनीक के माध्यम से सामने आए। बिक्रम सिंह ने इस संग्रह की भाषा पर विशेष ध्यान रखा है।

कहानीकार बिक्रम सिंह ने कहानी के रूप को कहानी के अंदर ही बदलने की कोशिश की है लेकिन इस बदलाव की अतिशयता ने उनकी कुछ कहानियों को कहानीपन से दूर कर दिया है। किसी-किसी कहानी में ब्यौरों को बेवजह ठूँसकर कथानक को ज़्यादा ही बड़ा करने का प्रयास किया गया है- जिससे उसकी अर्थवत्ता का क्षय होता दिखता है। यही वजह है कि इनकी छोटी कहानियाँ पाठक के मन में ज़्यादा गहरी छाप छोड़ती हैं। अलेक्सी टालस्टॉय ने भाषा के संबंध में कहा था कि "भाषा विचार का साधन है। भाषा का इस्तेमाल लापरवाही से करने का मतलब है विचार से लापरवाई करना।" इन कहानियों की विशेषता इनकी व्यंग्यात्मक भाषा है जो इनको अन्य कहानीकारों से अलग करती है। इस भाषा से कहानी में एक नया स्वाद आता है। इनकी भाषा रेणु और प्रेमचंद के ज़्यादा नज़दीक लगती है।

कहानीकार बिक्रम सिंह के इन संग्रहों को पढ़कर ये कहा जा सकता है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेतों के माध्यम से बड़ी बात सजेस्ट करना इस कहानीकार को आता है। अब ये आलोचकों और पाठकों पर निर्भर करता है कि इन सूक्ष्म संकेतों को वे किस तरह से नए क्षितिज में खोलकर उसे विस्तार देते हैं। ❑

बालमन की अभिव्यक्ति

पृष्ठ 31 का शेष...

होता है। जैसे-फोन, टेलीविजन, मोबाइल, फ्रिज, बड़े-बड़े बंगले आदि। फोन और इंटरनेट के चलते कई चर्चित बाल कार्टून के पात्रों को भी प्राथमिकता के साथ दिखाया गया है। शहर में एक वर्ग ऐसा भी है जो काफ़ी कठिनाइयों का सामना करता है। निम्न वर्ग का जीवन जीता है। वैसे परिवार के बच्चों की कलाकृतियों में रिक्शे, ठेले या छोटी-छोटी दुकानें दृष्टिगत होती हैं। किसी-किसी कृति में बच्चे सोफ़े पर बैठकर फ़ोन पर बातें कर रहे हैं। बच्चे क्रिकेट आदि खेल भी खेलते हुए नज़र आते हैं। इसके साथ ही गाँव हो या शहर ग़रीब एवं मज़दूर परिवार के बच्चों की कृतियाँ हमें अलग ढंग से संप्रेषित करती हैं। पर्व-त्यौहार या उत्सव आदि बच्चों के मन को खूब मोहते हैं तभी वे कई त्यौहारों का चित्रण करते हैं। इसके अलावा पशु-पक्षी आदि का चित्रण वे सहजता के साथ करते हैं। जो वाक़ई दर्शनीय हैं।



कार्तिक कुमार, गोपालगंज (बिहार)

अधिकांशत: बच्चों को चित्रकला की तकनीक या व्याकरण की जानकारी नहीं होती। वे किसी भी आकृति को बिना दबाव के रेखाओं में बाँधते चले गए हैं। अधिकांशत: बाल कृतियाँ रैखिक होती हैं यानी रेखाओं का प्रयोग ज़्यादा होता है। कला की भाषा में उसे 'रेखांकन' कह सकते हैं। काले रंग से रेखांकन करने के बाद बच्चे कहीं-कहीं रंगों का-प्रयोग करते हैं लेकिन ऐसे बच्चों की संख्या कम है। वैसे वे चटक-रंगों का प्रयोग ज़्यादा करते हैं। चटक रंगों के प्रति उनका आकर्षण भी होता है। इस तरह समग्र रूप से बाल चित्रकला को देखते हैं तो बहुत सारे सवाल मानस पटल पर छाने लगते हैं जिसमें कुछ उत्तरित हैं तो कुछ अनुत्तरित। वैसे देश के बहुत सारे प्रतिष्ठित समकालीन कलाकारों, मूर्तिकारों ने इस बात को स्वीकारा है कि वे बचपन में रेखांकन खूब करते थे। बचपन में कला के प्रति रुचि के कारण ही वे कला क्षेत्र में आए हैं। अत: कह सकते हैं कि बाल कला ही कला का वह बीज है जो आहिस्ता-आहिस्ता पल्वित-पुष्पित होते-होते कला का विशाल वृक्ष बन जाता है। ❑



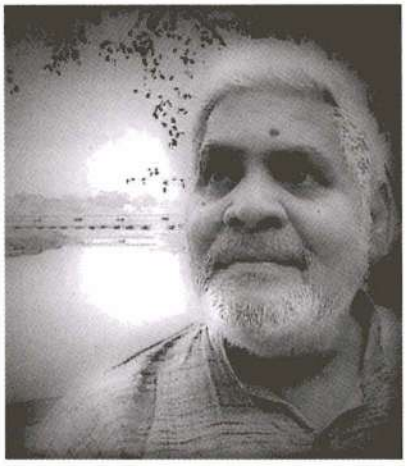
जन्म : अगस्त, 1983 (इलाहाबाद)। सामाजिक सरोकारों में रुचि, विशेषकर मज़दूर वर्ग के लिए कई वर्षों से कार्यरत। कविताएँ एवं कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। साहित्यिक ब्लॉग पर भी कविताएँ प्रकाशित।

भाषा में भय के मनोविशेषज्ञ

सुशील मानव

"यक़ीन मानिए/ इस आदमख़ोर गाँव में/ मुझे डर लगता है/ बहुत डर लगता है।" (मलखान सिंह)

किसी व्यक्ति या समुदाय को पूरा का पूरा गाँव आदमख़ोर लगने लगे तो ये उसके भय की पराकाष्ठा ही है, साथ ही तथाकथित सभ्य समाज की बर्बरता व अमानवीयता की हद भी। भय दरअसल मानस की प्राकृतिक रक्षात्मक प्रतिक्रिया है जिसे कंडीशनिंग प्रक्रिया के माध्यम से व्यक्ति और समुदाय के अंतर्मन में आरोपित किया जाता रहा है। सदियों पूर्व मनुवादी व्यवस्था ने राजसत्ता के सहयोग से मूलनिवासी समुदाय के भीतर लोगों के मन में भय की अनुक्रिया विकसित की। चूँकि इसमें सत्ता और व्यवस्था दोनों एकसाथ शामिल रहे थे अत: ये एक तरह की अनुबंधित अनुक्रिया थी जिसके लिए सबसे पहले दलित समुदाय के लोगों के मन पर कब्ज़ा किया गया। उनके हौसलों को तोड़ा-मरोड़ा गया और धार्मिक-सामाजिक-राजनैतिक आचार संहिता को सत्ता के साथ गठजोड़ कर उनपर थोपा गया फिर उन्हें सत्ता-व्यवस्था द्वारा तद्नुसार अनुकूलित किया गया। राम द्वारा शंबूक की हत्या का मिथकीय चित्रण प्रतीक है इस तथ्य का कि दलित समुदाय के लिए जो कुछ भी निषिद्ध था उसके उल्लंघन पर राजसत्ता के पास सज़ा-ए-मौत से कमतर तो कुछ था ही नहीं। इन रूह कँपा देनी वाले सज़ा-यातनाओं के कारण आतंक का मनोभाव और अधिक घनीभूत होकर समुदाय विशेष के मन में बैठ जाता। ये भय हिन्दी के बेहद महत्वपूर्ण कवि मलखान सिंह की रचना-प्रक्रिया का बहुत ही अहम् हिस्सा है जिसमें वो किसी दक्ष मनोवैज्ञानिक की तरह भय के निदान के तईं अपने आसपास समुदाय,समाज व्यक्ति और स्थिति-परिस्थिति का बहुत ही सूक्ष्म अनुभूति व अध्ययन परीक्षण करते हैं तभी तो भय उनकी कविताओं में ज़रूरी तत्व की तरह बार-बार आता है-



"चेहरे पर-/ मरघट का रोना है/ आँखों में भय/ मुँह में लगाम/ गर्दन में रस्सा है/ जिसे हम तोड़ते हैं/ मुँह फटता है/ और/ बँधे रहने पर/ दम घुटता है।"

सत्ताधारी समाज ने भाषा और उत्तेजना को प्रबलक की तरह इस्तेमाल किया। सर्वप्रथम भाषा में जाति-सूचक शब्दों को निर्मित किया गया फिर दलित समुदाय के लिए अपमान व हीनता को दर्शाने वाले कारक के रूप में स्थापित-प्रचारित किया गया। तत्पश्चात इन जाति-सूचक शब्दों के भाव-बोध को मुहावरों, लोकोक्तियों, गालियों में तब्दील करके समुदाय का अपराधीकरण कर दिया गया। इसके अनंतर भाषा के अश्लील प्रयोग से दलित समुदाय को हतोत्साहित करने का अभियान चलाया जाता रहा, एक निश्चित आवृत्ति और टोन में बार-बार लगातार। कवि मलखान सिंह किसी मनोविशेषज्ञ की तरह भाषा में इसकी शिनाख़्त करते हुए कहते हैं-

"मैं आदमी नहीं हूँ स्साब / जानवर हूँ / दोपाया जानवर / जिसे बात-बात पर / मनुपुत्र-माँ चो-बहन चो-/ कमीन कौम कहता है।"

मनुवादी सत्ता व्यवस्था द्वारा पहले-पहल भय की अनुक्रिया विकसित की गई। फिर भयोत्पादक उत्तेजना की उपस्थिति में ऐसी भयंकर अनुक्रिया उत्पन्न हुई जिसने भय को इतना अधिक प्रबलित कर दिया कि इसकी तीव्रता और व्यापकता ने एक पूरे क़ौम की मनोवृत्ति एवं व्यवहार को भयानुबंधित कर दिया। इस भयोत्पादक उत्तेजना में सत्तावर्ग की घृणा, क्रोध, बर्बरता, जुगुप्सा पैदा करती अमानवीयता, उन्मादी अट्ठहास धारदार हथियार लंबे-चौड़े बलिष्ठ लठैत और.... दलित समुदाय की चीख़, रहम की गुहार लट्ठ और तलवार से कटा-फटा रक्तरंजित शरीर, बलत्कृत स्त्रियों की क्षत-विक्षत योनियाँ, आग में भूने हुए नवजात बच्चों के शव सब कुछ शामिल रहा होगा। जिसका परिणाम ये हुआ कि दलित वंचित समुदाय दूर से ही उनकी सत्ता एवं उपस्थिति का आभास करके भयभीत होने लगा। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने बड़ी चालाकी से इनके भय और वंचना को अपमान, घृणा व तिरस्कार के साँचे में ढालकर रूपांतरित कर दिया। फिर चाहे वो सिर पर मैला रखकर ढोना हो या या गले में थूकने का पात्र टाँगकर घूमना। बिना जूता-चप्पल और पगड़ी के रहना हो या दलित स्त्रियों को स्तन खोलकर रहने का आदेश। मलखान सिंह भय की उस अनुक्रिया को न सिर्फ़ बहुत बारीकी से पकड़ते हैं अपितु इसका रचाव अपनी रचना 'सफ़ेद हाथी' में बखूबी करते हैं-

"मदांध हाथी-/ लदमद भाग रहा है/ हमारे बदन/ गाँव की कंकरीली /गलियों में घिसटते हुए /लहूलुहान हो रहे हैं/ हम रो रहे हैं/ गिड़गिड़ा रहे हैं/ ज़िंदा रहने की भीख माँग रहे हैं/ गाँव तमाशा देख रहा है/ और हाथी/ अपने खंभे जैसे पैरों से/ हमारी पसलियाँ कुचल

***संपर्क** : ए-59, श्याम पार्क एक्सटेंशन, साहिबाबाद, ग़ाज़ियाबाद-201005 मो. 06393491351*

रहा है/ मवेशियों को रौंद रहा है/ झोपड़ियाँ जला रहा है/ गर्भवती स्त्रियों की नाभि पर/ बंदूक दाग रहा है और हमारे/ दुध-मुँहे बच्चों को/ लाल-लपलपाती लपटों में/ उछाल रहा है।"

लोग भय को अपने बचाव के साधन के रूप में इस्तेमाल करने लगे। ये भय की अनुक्रिया का सामान्यीकरण था जिसे और भी कई सामाजिक-धार्मिक-राजनैतिक पाबंदियों को थोपकर चाक-चौबंद किया गया। संपत्ति तो उनसे पहले ही सब छीन ली गई थी। उनसे उनके देवता, उनके सारे अधिकार भी छीनकर ब्राह्मण व्यवस्था द्वारा दलित समुदाय को घोर वंचना से अभिशापित कर दिया गया। इस तरह अधिकारहीन वंचित समुदाय अपना पेट पालने के लिए उनके मरे हुए पशुओं उनके छोड़े हुए जूठन, उनके फेंके हुए सड़े-गले खाद्य-अपशिष्टों पर बहुत बुरी तरह आश्रित था। ये अधिकारहीनता और वंचना ही थी जिसने एक पूरे क़ौम को सदियों तक अमानवीय तरीके से बेहद दुरूह, दुष्कर एवं विक्षिप्त जीवन जीने को बाध्य करता रहा। भय और वंचना के बीच पिसते दलित जीवन की उसी दुरूहता को बहुत ही सहज सरल भाषा में मलखान सिंह अभिव्यक्त करते हैं-

"मेरी माँ मैला कमाती थी / बाप बेगार करता था / और मैं मेहनताने में मिली जूठन को / इकट्ठा करता, खाता था/...../ मुझे गुस्सा आता है / कि पेट और पूँछ में / एक गहरा संबंध है/ कि पेट के लिए रोटी ज़रूरी है/ और रोटी के लिए / पूँछ हिलाना/ उतना ही ज़रूरी है/ इसीलिए जब किसी बात पर बेटे को/ पूँछ तान गुर्राते देखता हूँ/ मुझे गुस्सा आता है/ साथ ही साथ डर भी लगता है/ क्योंकि गुर्राने का सीधा सपाट अर्थ / बग़ावत है।"

जब व्यक्ति भय के कारक के प्रति चिंतित रहता है तो वो खुद को भय से मुक्त नहीं रख पाता। उसकी ये चिंता ही अनुकूलित होकर उसके व्यक्तित्व से चिपक जाती है। धीरे-धीरे स्थिति इतनी तीव्र हो जाती है कि ये अनुकूलित भय ही स्थायी भाव बनकर एक तर्कहीन फ़ोबिया में तब्दील हो जाता है तथा व्यक्ति और समुदाय के पूरे मनोविज्ञान को प्रभावित करने लगता है। और फिर व्यक्ति और समुदाय अपनी चिंता से दूर होने या बचने के लिए भयोत्पादक समाज व स्थितियों से बचने का प्रयास करता है। और अपने इसी अर्जित भय को विरासत के रूप में अपनी भावी पीढ़ी को सुरक्षा की ढाल बताकर सौंपता है-

"मरते समय बाप ने/ डबडबाई आँखों से कहा था कि बेटे/ इज़्ज़त इंसाफ़ और बुनियादी हक़ूक़/ सबके सब आदमी के आभूषण हैं/ हम गुलामों के नहीं/ मेरी बात मानो-/ अपने वंश के हित में/ आदमी बनने का ख़्वाब छोड़ दो/ और चुप रहो।"

असुरक्षा एवं हीनता का भाव भय की व्युत्पत्ति है जिसमें व्यक्ति और समुदाय सदैव एक अनहोनी की आशंका से घिरा रहता है। एक समय में जब भय सीमा से बढ़कर आतंक का रूप धर लेता है तो दूसरे रूप में उभरता है। भय को निकलने का कोई ज़रिया नहीं मिलता तो वह दूसरा रूप धर लेता है। क्या कारण है कि अधिकांश दिमाग़ी बीमारियाँ दलित, दमनित, शोषित समुदाय में ही दिखती हैं। इन्हीं भय-जनित विक्षिप्तियों के चलते ही दलित स्त्रियों को डायन घोषित करके घेरकर उनकी हत्या कर दी जाती रही है। मानसिक संघर्ष के कारण उत्पन्न हुए तनाव की स्थिति में दुखद भावनाओं से अपनी रक्षा हेतु व्यक्ति किसी विचार प्रक्रिया को ही बार-बार दोहराकर खुद को उलझाए रखता है। व्यक्ति जब हीनता की भावना से ग्रस्त होता है तो वह इसके कारण उत्पन्न तनाव को बाध्य क्रियाओं अथवा विचारों के माध्यम से अभिव्यक्ति यानी निष्कासन करता है। वो देवताओं को पूजकर ओझाई-सोखाई करने लगता है। ऐसा करने से न सिर्फ़ उसका तनाव कम होता है अपितु श्रेष्ठता का भाव उपजता है। श्रेष्ठता का ये भाव हीनता के भाव की प्रतिपूर्ति करता है। मलखान सिंह इस मनोदशा को डिकोड करते हुए लिखते हैं-

"यह ससुरी ओझाई ही तो है/ जिसके कारण जन आज भी/ उस खूँटे से बँधा है/ जिसका एक पाँव/ शैतान की आँत में/ दूसरा पाँव-/ धरती की काँख में धँसा है।"

हालाँकि पुरानी पीढ़ी जिसने हिंसा, बर्बरता और दमन की अनुभूति की है उनकी स्मृतियों में बसा वो भय उनके मन की आभासी कंडीशनिंग करती रहती है। इसका बहुत-सा उदाहरण अभी गाँवों में बाक़ी है। ये एक तरह की आभासी कंडीशनिंग है जो दरअसल पूर्व अनुभूति की ही छाया है। इसकी झलक मलखान सिंह की कविता 'हमारे गाँव में' मिलती है-

"हमारे गाँव में नम्रता/ जन की ख़ास पहचान है/ और उद्दंडता हरि का बाँकपन/ तभी तो वह-बोहरे का लौंडा/ जो ढंग से नाड़ा भी नहीं खोल पाता/ को दूर से ही आता देख/ मेरा बाबा/ 'कुँवरजी पाँव लागूं' कहता है/ और वह अशिष्ट/ अपना हर सवाल/ तू से शुरू करता है/ तू पर ही ख़त्म करता है।"

भय का एक कारण प्रतिक्रिया के परिणामों का न पता चलना होना होता है। यदि आप अपनी भय की घटनाओं के कारणों का पता लगा लेते हैं, तो लड़ना आसान हो जाता है। ऐसा नहीं है कि सिर्फ़ भय ही रचते हैं। मलखान सिंह उस भय के मनोविज्ञान की शिनाख़्त करके उसे तोड़ते भी हैं।

"हमें अंधा/ हमें बहरा/ हमें गूँगा बना / गटर में धकेल दिया / ताकि चुनौती न दे सकें / तुम्हारी पाखंडी सत्ता को।"

प्रबलक प्रतिक्रिया का अनुसरण करता है, जिससे उसकी प्रतिक्रिया शक्ति प्रबल होती है अर्थात् प्रतिक्रिया पहले होती है और प्रबलन बाद में मिलता है जो प्रतिक्रिया की शक्ति में वृद्धि का साधन बनता है। यही अब तक भय के मनोविज्ञान में काम कर रहा था, अब इसे उलट दीजिए। एससी/एसटी एक्ट को प्रबलन के रूप में देखिए। इसने सदियों से भयभीत और अधिकार वंचित रहे मूलनिवासी दलित समुदाय के प्रतिरोध की प्रतिक्रिया शक्ति को महज़ कुछ दशकों में इतना संघर्षशील बना दिया कि सुप्रीम कोर्ट के माननीयों तक को इसकी शक्ति सीमित करनी पड़ी ! ये कहकर कि सवर्ण समुदाय के प्रति इस एक्ट का बहुतायत दुरुपयोग किया जा रहा है! जबकि एससी/एसटी एक्ट ने 'रामायण' के मिथक बाली को मिले वरदान की तरह काम किया। एक ओर जहाँ इस एक्ट ने दलित समुदाय को बल दिया वहीं वो सवर्ण समुदाय द्वारा अब तक किए जाते रहे भय की अनुक्रिया व इसके प्रबलन को निषिद्ध भी किया। साथ ही प्रशासनिक संस्था व सत्ता को मन-बेमन इस एक्ट के साथ खड़ा होना पड़ा। इससे न सिर्फ़ भयभीत दलित समुदाय को अन्याय के ख़िलाफ़ न्याय का भरोसा मिला अपितु प्रतिरोध का साहस और बल भी हासिल हुआ।

"अब! केवल यही सोच रहा हूँ मैं/ कि सामने बंद दरवाज़े पर/ दस्तक नहीं, ठोकर दूँगा/ दीवालें चूल से उखाड़/ ज़मीं पर बिछा दूँगा/ चौरस ज़मीं पर / मकां ऐसा बनाऊँगा/ जहाँ हर होंठ पर/ बंधुत्व का संगीत होगा/ मेहनतकश हाथ में- / सब तंत्र होगा।"

बाद में लोकतांत्रिक सत्ता व्यवस्था के उत्तरोत्तर जातीय संगठनों एवं राजनैतिक दलों के बरअक्स जातीय चेतना का विकास हुआ और फिर अस्मितावादी राजनैतिक दलों के राज्य सत्ता में भागीदारी के चलते दलित समुदाय में अस्मिताबोध का विकास हुआ। संविधान ने वंचना के अभिशाप को तोड़ते हुए उन्हें शिक्षा, रोज़गार और सत्ता-संस्थानों में प्रतिनिधित्व का हक़ दिया जबकि लोकतांत्रिक व्यवस्था ने सत्ता को ब्राह्मणवादी विचार व्यवस्था के असंगत और परस्पर विरोधी भूमिका में लाकर खड़ा कर दिया। मतदान का अधिकार मिलने से भी उनमें

बराबरी का बोध जन्मा। सत्ता में भागीदारी और एससी/एसटी एक्ट के पावर-कांबो-पैक ने दलित समुदाय में भय की अनुक्रिया के स्थान पर दूसरी अनुक्रिया विकसित की जो परस्पर विरोधी और अधिक प्रबल अनुक्रिया थी। ये काउंटर रिएक्शन यानी प्रतिरोध की अनुक्रिया थी जिसने युवा दलित समुदाय के मन से भय की जड़ों को न सिर्फ़ ऊखाड़ फेंका अपितु उन्हें बहुत आक्रामक और लड़ाकू बनाया। ये अनुक्रिया अधिकारों के प्रति सकारात्मक संवेगात्मक प्रतिक्रिया है। ये संघर्ष से अनुबंधित होकर अर्जित की गई अनुक्रिया है। ये एक वंचित समाज के द्वारा भय पर विजय की अनुक्रिया का अनुगूँज है। मलखान सिंह की 'आज़ादी' शीर्षक कविता में बदलाव की ये अनुगूँज पुरज़ोर सुनी जा सकती है-

"वहाँ वे तीनों मिले / धर्मराज ने कहा पहले से / दूर हटो- / तुम्हारी देह से बू आती है / सड़े मैले की / उसने उठाया झाड़ू / मुँह पर दे मारा ।/ वहाँ वे तीनों मिले / धर्मराज ने कहा दूसरे से / दूर बैठो-/ तुम्हारे हाथों से बू आती है / कच्चे चमड़े की / उसने निकाला चमरौधा / सिर पर दे मारा/ वहाँ वे तीनों मिले / धर्मराज ने कहा तीसरे से नीचे बैठो -/ तुम्हारे बाप-दादे / हमारे पुस्तैनी बेगार थे / उसने उठाई लाठी / पीठ को नाप दिया/ अरे पाखंडी तो मर गया !/ तीनों ने पकड़ी टाँग / धरती पर पटक दिया / खिलखिलाकर हँसे तीनों/ कौली भर मिले / अब वे आज़ाद थे।"

मलखान सिंह अपनी रचनाओं में धर्मसत्ता को भी पुरज़ोर चुनौती देते हैं तो एक आस्तिक की तरह वेदना के स्वर में ही देते हैं। वो कहीं भी अपनी वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर भगवान के अस्तित्व को सीधे-सीधे नकारते नहीं बल्कि तथाकथित नियंता को कठघरे में खड़ा करके उनके पापकर्म, उनके अन्याय एवं पक्षपाती रवैये की मुख़ाल्फ़त करते चलते हैं। ये बात इस तथ्य को और पुख़्ता करती है कि उनकी कविताओं का यथार्थ और व्यथानुभूति भले उनका निजी हो पर उनका संघर्ष निजी नहीं बल्कि पूरे दलित समुदाय व समाज के लिए है।

"ओ परमेश्वर!/ कितनी पशुता से रौंदा है हमें/ तेरे इतिहास ने/ देख, हमारे चेहरों को देख/ भूख की मार के निशान/ साफ़ दिखाई देंगे तुझे/ हमारी पीठ को सहलाने पर/ बबूल के काँटों से दोनों/ मुट्ठियाँ भर जाएंगी तेरी/ हमारे सूजे हुए कंधों को छू/ बैल के पके कंधे का दर्द भी/ हल्का लगेगा तुझे/ हमारी बस्ती में/ खाँसती-बोझा ढोती/लाशों को देख/ ज़िंदा रहने का साहस ही/ खो बैठेगा तू!/ हम फिर भी ज़िंदा हैं/ और तू! चुप है/ गूँगे की तरह चुप!"

उसी क्रम में वो ब्राह्मणवादी वर्चस्ववाद को भी चुनौती देते हैं। शुचिता के उनके सुविधावादी पाखंड को दलितों के बदबूदार यथार्थ और दान-धर्म के नाम पर हरामख़ोरी के कला-कौशल को श्रम-मूल्यों के बरअक्स रखकर ख़ारिज करते हैं। दलितों को भौंडा समझने वाली मनोवृत्ति के सुवासित देहगंधों से इतर पसीने से सनी जीवन गंध के सौंदर्यबोध को रचते हैं। साथ ही साथ अवैज्ञानिक कर्मकांडों, वर्ग-योनि में जन्म की अवधारणा एवं दलित होने के पिछले जन्म के पाप-कर्म जैसे अतार्किक बातों को ख़ारिज कर देते हैं। ये शोषण की पीड़ा से उपजी वितृष्णा नहीं बल्कि उनकी वैचारिकता में वैज्ञानिक चेतना का विकास है जो सीधे उनके आत्मबोध से जुड़ती है।

"सुनो ब्राह्मण/ हमारी दासता का सफ़र / तुम्हारे जन्म से शुरू होता है/ और इसका अंत भी/ तुम्हारे अंत के साथ होगा"।

लोकतांत्रिक सत्ता-व्यवस्था से ब्राह्मणवादी व्यवस्था ख़त्म न भी हुई हो तो कुछ कमज़ोर ज़रूर पड़ी। माने बदली हुई परिस्थितियों में समुदाय के भीतर वो भय को प्रबलित नहीं कर पाए लेकिन इतनी सदियों तक शोषण और बर्बरता के बलबूते सत्ता के केंद्र में रहा सुविधाभोगी वर्ग इतनी आसानी से अपनी सत्ता भला क्यों छोड़ने लगा! तो इसी क्रम में एक आज़ाद और लोकतांत्रिक राज्य में भी कई-कई बार वो ब्राह्मणवादी सामंती बर्बरता दोहराई गई। भय की मनोवृत्ति को फिर से खड़ा करने की अमानवीय कोशिश में दलित समुदाय का जनसंहार किया गया। उनकी लड़कियों, स्त्रियों से सामूहिक दुष्कर्म किया। घर-बार फूँका गया।

मलखान सिंह भय की वेदना लिखते हैं, अपमान पीड़ा तिरस्कार और वंचना लिखते हैं। इन रचनाओं का हासिल ये है कि इनमें वर्ग या जाति विशेष के प्रति प्रतिशोध, नफ़रत या गाली नहीं है जिससे कि पाठक होकर एक सवर्ण उत्तेजित प्रतिक्रिया दे। इन कविताओं का अर्जित ये है कि इन्हें पढ़कर ब्राह्मण या सवर्ण पाठक के मन में आत्मग्लानि व अपराधबोध का भाव पैदा होता है। इन्हें पढ़कर वो अपने पुरखों के सामने गर्व से शीश नहीं नवाता बल्कि कई बार धिक्कारता है, लानत भेजता है उनकी बर्बरता एवं अमानवीयता भरे इतिहास पर। शर्मिंदा होता है उनका वंशज होने पर। इन कविताओं की सार्थकता ये है कि ये सवर्ण पाठकों को भी उद्वेलित और आंदोलित करती हैं। सवर्ण से मनुष्यतर होने की भावना जगाती हैं।

"सुनो ब्राह्मण/ हमारे पसीने से/ बू आती है तुम्हें/ फिर ऐसा करो/ एक दिन/ अपनी जनानी को/ हमारी जनानी के साथ/ मैला कमाने भेजो/ तुम! मेरे साथ आओ/ चमड़ा पकाएंगे/ दोनों मिल बैठ कर/ मेरे बेटे के साथ/ अपने बेटे को भेजो/ दिहाड़ी की खोज में/ और अपनी बिटिया को/ हमारी बिटिया के साथ/ भेजो कटाई करने/मुखिया के खेत में/"

सवर्ण सत्ता की भाषा में दलित पीड़ा की अभिव्यक्ति संभव ही नहीं है। सत्ता की भाषा में किया गया कोई भी रचाव क्रिया-प्रतिक्रिया तक ही सिमटकर रह जाती है। इसीलिए सत्ता की भाषा से अलग मलखान सिंह अपनी अलग काव्य भाषा विकसित करते हैं। ये भाषा का ही कमाल है कि सवर्ण सत्ता का प्रतिरोध करते हुए भी उनकी अपनी मनुष्यता का तनिक भी क्षरण नहीं होता। साथ ही अपनी भाषा में वो सामाजिक दायित्वबोध वाले कवि नज़र आते हैं। आवेग और दायित्वबोध का बेहद उम्दा संतुलन नई भाषा शैली के चलते ही उनकी रचनाओं में संभव हो पाया है।

"सामने अलाव पर/ मेरे लोग देह सेक रहे हैं / पास ही घुटनों तक कोट/ हाथ में छड़ी,/ मुँह में चुरट लगाए खड़ीं/ मूँछें बतिया रही हैं।/ मूँछें गुर्रा रही हैं/ मूँछें मुस्किया रही हैं/ मूँछें मार रही हैं डींग/ हमारी टूटी हुई किवाड़ों से/ लुच्चई कर रही हैं।/ शीत ढह रहा है/ मेरी कनपटियों/ आग-सी तप रही हैं।"

अपनी रचनाओं में दीनता-हीनता वंचना के सटीक निरूपण के लिए उन्होंने जानवरों व मिथकों की उपमाओं, प्रतीकों और रूपकों का प्रयोग किया है। उनकी रचनाओं के बिंब और रूपक तक दलित-बोध सवर्ण-बोध लिए हुए हैं। जैसे आदमख़ोर गाँव, ठकुराइसी मेड़, डोम टोला के लिए ठेठ मेढक और सुअर खुडारो, ब्राह्मणवादी व्यवस्था के लिए अजगर का जबड़ा, भरपेट भोजन से वंचना के लिए 'पत्थर पेट पर बाँध सोते हैं'। धार्मिक, सामाजिक विडंबनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने वक्रोक्ति का बहुत उम्दा प्रयोग किया है।

धर्मसत्ता के परम प्रतीक शिवलिंग को एकलव्य का अँगूठा बताते हुए वो कटाक्ष करते हैं-

"तेरा धरती में गड़ा स्थूल लिंग/ अग्रज एकलव्य का कटा अँगूठा/ प्रतीत होता है हमें।" या फिर।

"यदि कोई प्यासा जन/ भूल या मजबूरी वश/ हरि कुएँ की जगत पर/ पाँव भी रख दे / तो कुएँ का पानी/ मूत में बदल जाता है।" ❑

● 66वाँ दादा साहब फाल्के पुरस्कार

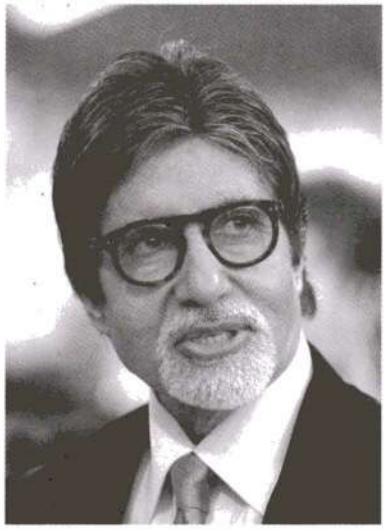


25 वर्षों से फिल्म पत्रकारिता में सक्रिय। 'दैनिक जागरण' के फिल्म संपादक पद से सेवानिवृत्त। वर्तमान में स्वतंत्र लेखन और शोध कार्य।

वह हम सभी के अंदर हैं

अजय ब्रह्मात्मज

इन दिनों हर पुरस्कार विवादास्पद हो जाता है। पिछले दिनों 2018 के 66वें दादा साहब फाल्के पुरस्कार के लिए जब सूचना एवं प्रसारण मंत्री ने अमिताभ बच्चन के नाम की घोषणा की तो अनेक भृकुटियाँ तन गईं। एक तो पहली बार इतनी बड़ी ख़बर सीधे ट्विटर पर दी गई। इस ट्वीट के अनेक अर्थ निकाले गए। पहली प्रतिक्रिया यही थी कि अमिताभ बच्चन को यह पुरस्कार कुछ सालों के बाद भी दिया जा सकता था। हिन्दी फ़िल्मों के संदर्भ में ही बात करें तो वहीदा रहमान और धर्मेंद्र का ज़िक्र चला यों इस पुरस्कार के लिए अमिताभ बच्चन की योग्यता पर संदेह या आपत्ति नहीं की गई, लेकिन व्याख्याएं तो हुईं। और बहुत-सी बातें भी इस विवाद में व्यक्त राय और धारणाओं पर ग़ौर करेंगे तो पाएँगे कि इनमें फ़िल्म कलाकार अमिताभ बच्चन के निरंतर योगदान को नज़रअंदाज़ किया गया। उनके ग़ैरफ़िल्मी क्रियाकलापों को ध्यान में रखा गया और उन से बनी अमिताभ बच्चन की विवादास्पद छवि को तूल दिया गया।



भारतीय फिल्मों और ख़ासकर हिन्दी फिल्मों के लिए अमिताभ बच्चन किसी परिघटना की तरह हैं। पहली फिल्म 'सात हिंदुस्तानी' (1969) से लेकर आख़िरी रिलीज़ 'सैरा नरसिम्हा रेड्डी' (2019) तक के फ़िल्मी सफ़र में अमिताभ बच्चन ने अनेक पीढ़ियों का मनोरंजन किया है। फ़िल्मों के रूपहले पर्दे पर हम उन्हें भिन्न रूपों और अंदाज़ में देखते और पसंद करते रहे हैं। हालांकि उनकी प्रसिद्ध और प्रचलित छवि 'एंग्री यंग मैन' की है, लेकिन नाराज़ युवक की भूमिका वाली उनकी फ़िल्मों की संख्या शेष फ़िल्मों की तुलना में बहुत कम है। 'एंग्री यंग मैन' की लोकप्रिय छवि ने अभिनेता अमिताभ बच्चन की शेष छवियों को ग्रस लिया। रोमांटिक, इमोशनल और इन दिनों बुजुर्ग किरदारों से वे प्रशंसकों और आम दर्शकों को मुग्ध करते रहे हैं। सन् 1969 से 2019 के 50 सालों की फ़िल्मी यात्रा में अमिताभ बच्चन अनेक पदों और मोड़ों से गुज़रे हैं।

प्रचलित विश्वास है कि अमिताभ बच्चन ने प्रकाश मेहरा और मनमोहन देसाई के साथ सबसे अधिक काम किया है। प्रकाश मेहरा और मनमोहन देसाई की फ़ार्मूलाबद्ध मसालेदार कमर्शियल फिल्मों के कामयाब निर्देशक रहे हैं। निश्चित अमिताभ बच्चन की लोकप्रियता में उनकी फ़िल्मों का बड़ा योगदान रहा है, लेकिन इन दोनों ने अपनी फ़िल्मों में उनकी इमेज को भुनाया। सभी फ़िल्मों में उन्हें लगभग एक ही रूप और अवतार में पेश किया। इसके विपरीत हृषीकेश मुखर्जी ने 'आनंद' से लेकर 'बेमिसाल' तक में उन्हें भिन्न आयाम और शेड्स के किरदार दिए। हृषीकेश मुखर्जी ने अमिताभ बच्चन को कभी नहीं दोहराया और ना ही उनकी पॉपुलर इमेज के दबाव में रहकर अपने किरदारों की प्रस्तुति बदली। हृषीकेश मुखर्जी के देहांत के बाद एक संस्मरण में अमिताभ बच्चन ने लिखा था, 'उनके साथ काम करना हमेशा अविश्वसनीय अनुभव रहा, क्योंकि फिल्ममेकिंग की उनकी शैली में गुणवत्ता और कथा के विचार से कभी कोई समझौता नहीं होता था। उन्होंने फ़िल्मों के लिए मध्यमार्ग चुना, जो न तो अधिक कलात्मक था और ना ही अधिक व्यावसायिक। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे अधिकांश रोचक किरदार उनकी फिल्मों में ही मिले। आप 'आनंद', 'मिली', 'चुपके-चुपके', 'बेमिसाल', 'नमकहराम' आदि फ़िल्मों को देख सकते हैं। मैंने जिस निर्देशक के साथ सबसे ज़्यादा फ़िल्में की वह हृषीदा ही हैं। यह धारणा ग़लत है कि मैंने प्रकाश मेहरा और मनमोहन देसाई के साथ ज़्यादा फ़िल्में की हैं।"

हृषीकेश मुखर्जी और अमिताभ बच्चन की साथ की फ़िल्में बिल्कुल अलग मोड़ पर दिखती हैं। अमिताभ बच्चन ने 'ज़ंजीर' की मशहूर भूमिका के पहले हृषीदा के निर्देशन में काम कर लिया था। 'एंग्री यंग मैन' की इमेज मिलने और एक के बाद एक समान भूमिकाएँ करने के दौर में भी उन्होंने हृषीदा के साथ फ़िल्में कीं। हृषीदा उन्हें हर फ़िल्म में नए क़िस्म और स्वभाव का किरदार सौंपते थे। उनकी एक विशेषता यह भी थी कि उनके पास कहानी, किरदार और दृश्य तो होते थे, लेकिन कोई लिखी-बंधी स्क्रिप्ट नहीं होती थी। फिर भी अमिताभ बच्चन सरीखे अभिनेता उन पर भरोसा करते हुए फ़िल्मों के लिए हाँ कह देते थे। फ़िल्मों के किरदारों को लेकर आज की तरह होमवर्क या मेथड एक्टिंग के अभ्यास की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। अमिताभ बच्चन के ही शब्दों में, "वे हमसे कहते थे, यहाँ खड़े रहो, वहाँ चलो। इस बात को ऐसे कहो या वैसे बोलो... हमें तो यह भी पता नहीं रहता था कि शूट हो रहा है दृश्य

संपर्क : *302ए, धीरज रेसीडेंसी (ओशिवारा बस डिपो के सामने), गोरेगाँव वेस्ट, मुंबई-400104, मो. 09820240504*

फिल्म में कहाँ आएगा?" आज भी 'आनंद' के भास्कर बनर्जी को हम अमिताभ बच्चन की अदाकारी की तीव्र अनुभूति के लिए याद करते हैं। आनंद और भास्कर के रिश्ते के रागात्मक तनाव को अमिताभ बच्चन ने फ़िल्म के अंत के भावुक दृश्य में बखूबी ज़ाहिर किया था। प्रकाश मेहरा ने भास्कर बनर्जी की की व्यक्त मुद्राओं को ही 'ज़ंजीर' में ख़ास अंदाज़ में पेश किया।

दरअसल, 'एंग्री यंग मैन' और अभी की फ़िल्मों के 'एवररेडी ओल्ड मैन' के व्यापक प्रभाव और आकर्षण में हम मुख्य रूप से हृषीकेश मुखर्जी की फ़िल्मों में ज़ाहिर उनके अभिनय के वैविध्य को याद नहीं रख सके। 'एंग्री यंग मैन' ने उनकी छवि 'लार्जर दैन लाइफ़' कर दी। उसके प्रभाव में उनकी सामान्य किरदारों की फ़िल्मों पर दर्शकों की एकाग्रता नहीं बनी। बदले की भावना से संचालित और सक्रिय 'विजय' आम दर्शकों को खुद के ज़्यादा क़रीब लगा, जबकि हृषीदा की फ़िल्मों में आम ज़िंदगी के विभिन्न क्षेत्रों के चरित्रों को अमिताभ बच्चन उनके मिज़ाज के साथ फ़िल्मों में लाते रहे। 'मिली' (1975) के शंकर दयाल को याद करें। नशे में धुत शंकर का एक काला अतीत है। वह खुद से ही जूझ रहा है। 'अभिमान' (1973) में पति-पत्नी की परस्पर ईर्ष्या और अहंकार की टकराहट याद होगी। इस फ़िल्म में पत्नी के प्रति अगाध प्रेम से आलोड़ित पति की संजीदगी अमिताभ ही निभा सकते थे। 'अभिमान' और 'सिलसिला' (1981) के बारे में फ़िल्मी किंवदंती है कि इनमें उनकी निजी ज़िंदगी की गलियाँ थीं। ऐसी किंवदंतियों से दर्शकों की जिज्ञासा बढ़ती है, लेकिन सच्चाई तो यही है कि निजी भावों, अनुभवों और प्रतिक्रियाओं की सार्वजनिक अभिव्यक्ति भी अभिनय है। ऐसा लगता है कि फ़लां दोस्त के जीवन में कुछ ऐसा ही तो चल रहा है। हृषीदा की ही 'जुर्माना' (1979) और 'नमकहराम' (1973) में अमिताभ बच्चन ने किरदारों के निगेटिव स्वभाव के मुताबिक चाल-ढाल बदली, निगेटिव उद्रेक के दृश्यों में उनका लहजा भी बदलता दिखा। 'चुपके-चुपके' (1975) में उनके किरदार को याद करें तो अंग्रेज़ी का अध्यापक होने के बावजूद बॉटनी पढ़ाने की कोशिश आज भी हँसाती है। 'आलाप' (1977) के आलोक प्रसाद को देखते समय उसकी दीनता और सहजता प्रभावित करती है।





हिन्दी फ़िल्मों में ऐसे अभिनेता नहीं हैं, जिन्हें अनेक फ़िल्मों में एक ही नाम दिया गया हो। अमिताभ बच्चन ने 'ज़ंजीर' में सबसे पहले विजय खन्ना नाम का किरदार निभाया था और अभी नागराज मंजुले की निर्माणाधीन फिल्म 'झुंड' में उनका नाम विजय बारसे है। इस नाम के प्रति अमिताभ बच्चन का कोई सम्मोहन नहीं था। लेखक-निर्देशक अभिनेता अमिताभ बच्चन के सिग्नेचर की तरह 'विजय' का नाम इस्तेमाल करते रहे। 'विजय' नाम रखने भर से उन्हें चरित्र गठन और विवरण के विस्तार से निजात मिल जाती थी। नाम सुनते ही दर्शक को एहसास हो जाता था कि वे अमिताभ बच्चन को चिर-परिचित अंदाज़ में देखने जा रहे हैं। याद करें तो 'ज़ंजीर' (विजय खन्ना), 'रोटी कपड़ा और मकान' (विजय), 'दीवार' (विजय वर्मा), 'हेराफेरी' (विजय), 'त्रिशूल' (विजय कुमार), 'डॉन' (विजय), 'द ग्रेट गैंबलर' (इंस्पेक्टर विजय), 'काला पत्थर' (विजय पाल सिंह), 'दो और दो पांच' (विजय), 'दोस्ताना' (विजय वर्मा), 'शान' (विजय कुमार), 'शक्ति' (विजय कुमार), 'आख़िरी रास्ता' (विजय शांडिल्य), 'शहंशाह' (विजय कुमार श्रीवास्तव), 'अग्निपथ' (विजय दीनानाथ चौहान', 'अकेला' (इंस्पेक्टर विजय वर्मा), 'एक रिश्ता- द बांड ऑफ़ लव' 'विजय कपूर), 'आँखें' (विजय सिंह राजपूत), 'गंगा' (ठाकुर विजय सिंह), 'निःशब्द' (विजय), 'बुड्ढा होगा तेरा बाप' (विजय मल्होत्रा) और 'झुंड' (विजय बारसे)... इन फ़िल्मों में निभाए विजय को किसी क्रम, समूह, श्रेणी में बाँट कर अध्ययन करें तो कुछ अत्यंत रोचक निष्कर्ष मिलेंगे। हर फिल्म में विजय विजयी नहीं होता। वह कभी जूझता, लड़ता और हारता भी दिखता है, लेकिन उसके जोश, ज़ज्बे और ज़हनियत से हम प्रभावित होते हैं। उस दौर में अनेक निर्देशकों ने दूसरे समकालीन अभिनेताओं को 'विजय' का स्वभाव दिया, लेकिन उन अभिनेताओं में वह हाव-भाव और प्रभाव नहीं आ सका।

अमिताभ बच्चन मौक़ापरस्त हैं या समय के साथ चलने वाले व्यक्ति हैं? यह इस बात पर निर्भर करता है कि आप उनके आलोचक हैं या प्रशंसक? हर व्यक्ति की तरह अमिताभ बच्चन आज अपने अतीत के फ़ैसलों का नतीजा हैं। उन्हें कभी मजबूरन कोई फ़ैसला लेना भी पड़ा हो तो उसे उन्होंने तर्क और कारण से निजी निर्णय बना दिया। हिन्दी फ़िल्म इंडस्ट्री में उनके अनेक हितैषी हैं, लेकिन कोई भी स्थाई मित्र नहीं दिखता। समय और परिस्थिति के मुताबिक उनकी मित्र मंडली और करीबियों के चेहरे बदलते रहे हैं। आलोचक इसे मौक़ापरस्ती कहते हैं। वही प्रशंसक मानते हैं कि अमिताभ बच्चन रिश्तों को न तो ढोते हैं और ना ही किसी पर लादते हैं। उनकी दोस्ती, रिश्तेदारी और नज़दीकी परस्पर होती है। निजी मुलाक़ातों और साक्षात्कारों में मैंने पाया है कि वे जल्दी खुलते नहीं है। कभी किसी बातचीत या मुलाक़ात में खुले भी तो अगली भेंट में फिर से अपरिचय की चादर ओढ़ लेते हैं। सार्वजनिक स्थानों पर उनकी नज़रें किसी पर नहीं तकतीं। वे नज़रें मिलाने और पहचान ज़ाहिर करने से बचते हैं। लोकप्रिय व्यक्तियों को अपनी निजता के लिए ऐसी युक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। अमिताभ बच्चन के बारे में मशहूर है कि अपने घर पहुँचने के बाद भी आधे घंटे तक वह अमिताभ बच्चन ही रहते हैं। उसके बाद ही उन्हें किसी और की ज़रूरत पड़ती है। यह एक कलाकार के आत्ममुग्धता हो सकती है,लेकिन लोकप्रियता के शिखर पर बैठे व्यक्ति के एकाकीपन से जोड़कर देखें तो सहानुभूति होती है।

मुंबई की फ़िल्म इंडस्ट्री में कामयाबी और अपना स्थान बनाए रखने के लिए आवश्यक छल-बल के अनेक क़िस्से अमिताभ बच्चन के बारे में भी मशहूर हैं। मनुहार और व्यवहार से उन्होंने हमेशा अपनी स्थिति मज़बूत रखी। पिछली सदी के आख़िरी दशक में कुछ सालों में उनकी लोकप्रियता धराशायी हुई तो वह भयंकर ढंग से विचलित हुए। असुरक्षा के उन दिनों में उनके विनम्र व्यक्तित्व में भी विक्षेप आया।

लोकप्रियता के ट्रैक पर आने की उनकी छटपटाहट का अंदाज़ा उनके मित्रों-परिचितों को होगा। अस्वीकृति के संकट से गुज़रते अमिताभ बच्चन ने आगे बढ़कर यश चोपड़ा से रोल माँगा। नए निर्देशकों से मिले। निराशा के उस दौर में तिनकेभर की उम्मीद से उन्होंने 'कौन बनेगा करोड़पति' का सहारा लिया। अमिताभ बच्चन आज सधे और लंबे कदमों से अपनी मंज़िल आगे बढ़ाते जा रहे हैं।

सक्रिय राजनीति से किनारा करने के बाद उन्होंने कहना शुरू किया कि वह अराजनैतिक व्यक्ति हैं। हो भी सकता है, क्योंकि हिन्दी फिल्म इंडस्ट्री की तमाम लोकप्रिय हस्तियाँ राजनैतिक चेतना से निरपेक्ष रहती हैं। विवादों से बचने के लिए यह ज़रूरी होता है। इतिहास गवा है कि कलाकार राज्याश्रय में रहते आए हैं। अमिताभ बच्चन के लिए यही बात कही जा सकती है। पिता के समय से राजनैतिक निकटता की वजह से और मित्र की पुकार पर दौड़कर चुनाव तक जा पहुँचे। सांसद बने और फिर उन्हें लगा कि वे राजनीति के दलदल में फंसते जा रहे हैं। असहमति के बाद वे फिर राजनीति से दूर हो गए। एक बार फिर परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि वे अपने गृहराज्य की राजनैतिक गतिविधियों के करीब पहुँचे। तत्कालीन उत्तर प्रदेश के समर्थन में उन्होंने विज्ञापन भी किए। 'कुछ दिन गुजारें गुजरात में' का खुलेआम निमंत्रण देने के बाद वे इन दिनों अनेक सरकारी विज्ञापनों में नज़र आते हैं।



अमिताभ बच्चन की राजनैतिक प्रतिबद्धता नहीं है। वे राजनैतिक पार्टियों के प्रचारक तो नहीं रहे, लेकिन कभी किसी पार्टी का विरोध या आलोचना नहीं करते। कोई टिप्पणी नहीं करते। कभी कोई सवाल नहीं करते। उनके ट्वीट राजनैतिक और सामाजिक संदर्भों से कटे होते हैं।

उम्र के इस पड़ाव में भी उनकी सक्रियता और संलग्नता अचंभित करती है। अनेक लोकप्रिय अभिनेताओं से वह अधिक व्यस्त रहते हैं। फ़िल्में, टीवी शो, विज्ञापन और अन्य गतिविधियों में उनकी व्यस्तता बनी रहती है। समय की उनकी पाबंदी और अनुशासन के बारे में सभी जानते हैं। खुद के बारे में बातें करने में वे हिचकिचाते हैं, लेकिन उनके ट्वीट और ब्लॉग पर उनके विचारों को पढ़ा और समझा जा सकता है। वे अपनी आत्मकथा नहीं लिखना चाहते। हमेशा कहते हैं कि मैंने क्या हासिल किया है? वे स्वयं दिलीप कुमार और बलराज सहनी से प्रभावित रहे। अपनी फ़िल्मों और अभिनय से उन्होंने अभिनेताओं की पीढ़ियों को प्रेरित और प्रभावित किया है। एक बार अजय देवगन ने बताया था कि हमें एहसास नहीं रहता कि हम कब अमिताभ बच्चन की कोई अदा अपने अभिनय में ले आते हैं। यह अनायास होता है और यह नक़ल नहीं है। मनोज बाजपेयी मानते हैं कि वे हम सभी के अंदर हैं।

अमिताभ बच्चन के पहलुओं को पूरी तरह एक लेख में समेत पाना मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन है। ❑

दलित-जीवन-विमर्श और...

पृष्ठ 42 का शेष...

अन्याय, असमानता, भेदभाव आदि की स्थितियों के बीच दलितों की नस्लों में गुणात्मक स्तर पर गिरावट आती चली गई है। यह सामाजिक पुनरुत्पादन का मसला तो था ही, पर इस परंपरा ने दलितों के जीवशास्त्रीय गुणसूत्रों को भी प्रभावित किया है। पीछे किसानों के काले पड़ने की बात की गई थी- 'कारे परे किसान'। अब अर्जुन कवि कहते हैं कि दीन यानी कि ग़रीब यानी कि दलित की जैसे नस्ल ही ढल रही है। चेहरा स्याहीपुता जैसा आता है वह ऐसा है जैसे फूल झड़ गया हो जिसका रंग उतर गया हो और जिसकी चमक ग़ायब हो गई हो-

नसल दीन की ढल चली, चेहरा स्याही आय।
फल देवैं चमकैं नहीं, झरैं फूल रंग जाय।। (269)

अर्जुन कवि कहते हैं कि दलित वर्ग की इस भारी और अंतहीन दुर्दशा के मूल में हिन्दू धर्म में व्याप्त जातिवाद किंवा सवर्णवाद है। जातिवादी सांस्कारिकता हमारे अंदर इतनी गहरी है कि क्या पढ़े-लिखे और क्या अनपढ़ और अधपढ़ इस मामले में सब एक जैसे हैं। अर्जुन कवि लिखते हैं कि पढ़े-लिखे लोग ज़्यादा जातिवाद फैलाते हैं। अनपढ़ या अधपढ़ लोगों को तो माफ़ भी किया जा सकता है। अनपढ़ या अधपढ़ लोग अपनी अज्ञानता या ज्ञान की सीमा के चलते ऐसा करें तो समझ में आता है पर पढ़े-लिखे, ज्ञानी-ध्यानी लोग भी जब ऐसा करते हैं तो उन पर गुस्सा आता है। उनसे घृणा होने लगती है। अर्जुन कवि दरअसल यह मानते हैं कि जातिवाद एक सोच, एक मानसिकता, एक संस्कार, एक स्वभाव है जो हमारी सामाजिक संरचना में अंतस्थ है। जन्म लेते ही जो व्यक्ति पर चस्पां हो जाता है, व्यक्ति के अधिकाँश कार्य और गतिविधियाँ उसके जातिगत दायरे में ही संपन्न होती हैं। अर्जुन कवि जातिवाद की तुलना एक गहरी सुरंग से करते हैं, जो बहुत ही गहरी, न जाने कितने अतल तक खुदी हुई है कि इसकी थाह ही नहीं मिलती! इस सुरंग में पूँजी का ठोंठा (दानमिल्ट) लगाकर चट्टान (समाज) को गहरे तक विखंडित किया जाता है। एतत्संबंधी दोहा पीछे आ गया है। यहाँ इस तथ्य का उल्लेख किया जाना पुनः आवश्यक है कि इस जातिवाद को आगे बढ़ाने, मज़बूत करने का काम ज़्यादातर पढ़े-लिखे लोग ही करते देखे जाते हैं–

पढ़े-लिखे हू पागलैं, जातिवाद दें ज्ञान।
मजबवार भगवान हैं, ब्रासत भैम बखान।। (62)
अर्जुन पढ़ते आदमी, गुनते हैं पाखण्ड।
धन घर भोजन चीर कौ, उत्पादक सिर दंड।। (304)
विष के तौ बीसौं पढ़ेए मन विषघर बौराय।
पाठ प्रेम के ना पढ़ेए झैर (ज़हर) बैर फैलाय।। (370)
अर्जुन पढ़ि स्कूल में, है गए ऊँचे ऊँट।
बँधो भरम की पूँछ से, बुद्धि नकेल न खूट।। (426)

इसलिए अर्जुन कवि इन पढ़े-लिखे नहलों पर अपना असल ज्ञान का दहला मारते हुए लिखते हैं कि वस्तुतः इन कथित पढ़े-लिखे लोगों को ही पहले पढ़ा जाना चाहिए। ये कथित पढ़े-लिखे लोग आदमी को दिग्भ्रमित करने का सबसे ज़्यादा काम करते दिखाई दे रहे हैं-

क्या उर्दू इंगलिस पढ़ूँ, क्या दे हिन्दी ज्ञान।
पढ़े आदमी कूँ पढ़ूँ, भटक रहा इन्सान।। (343) ❑

गुरु नानक का रचना पक्ष

महीप सिंह

'गुरु ग्रंथ साहब' में गुरु नानक देव के 974 पद संगृहीत हैं। उनकी रचनाओं में 'जपु' जी साहब की मान्यता सर्वाधिक है। सिख विचारधारा के अध्ययन की दृष्टि से इसे मूलाधार स्वीकार किया जाता है। इस वाणी के आरंभ में मूल मंत्र है जिसमें इस विचारधारा का बीज रूप प्राप्त हो जाता है। यह मंत्र है :

ੴ एक ओंकार
सतिनामु करतापुरखु निरभउ निरवैरु
अकालमूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।

यह एक प्रकार का मंगला चरण है। 'गुरु ग्रंथ साहब' में किसी-न-किसी रूप में इसे पाँच सौ से अधिक बार दोहराया गया है। मूल मंत्र को अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया गया है। सार रूप में इसका अर्थ है- 'परमेश्वर एक है, उसी का नाम सत्य है, वह कर्ता पुरुष है, वह निर्भय है, वह निरवैर, वह कालातीत है, वह अयोनि है, स्वयं से प्रकाशित है और गुरु की कृपा से उसकी प्राप्ति होती है। जपु जी साहब में दो सलोक (श्लोक) और 38 पौड़ियाँ हैं। सभी पौड़ियां पहले और अंतिम सलोक के बीच में हैं। पहले सलोक में गुरु नानक देव ने परब्रह्म की नित्यता तथा सर्व सातत्य पर अपनी आस्था प्रकट की है :

आदि सचु जुगादि सचु।।
है भी सचु। नानक होती भी सचु।

(वह आदि में भी सत्य था, युगों के प्रारंभ में भी सत्य था, आज भी सत्य है और भविष्य में भी सत्य होगा।)

पहली पौड़ी में एक स्थिति स्पष्ट की गई है :

सोचै सोचि न होवई जे सोची लखवार।
चुपै चुप न होवई जे लाइ रहा लिवतार।।
भुखिआ भुख न उतरी जे बना पुरीआ भार।
सहत सिआणपा लख होई त इक न चलै नालि।।

"यदि लाखों बार शौच-स्नान किया जाए तो भी शुचता प्राप्त नहीं होती। यदि मौन धारण करके लंबी समाधि लगा ली जाए, तो भी फल प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार पूरियों के पदार्थों का भार बाँध लेने पर भी एक क्षुधित व्यक्ति की भूख शांत नहीं होती। यदि व्यक्ति में लाखों चतुराइयाँ हों, अंत समय में एक भी चतुराई साथ नहीं देती।"

इस पौड़ी में उन्होंने साधक की इस जिज्ञासा को सामने रखा :

किव सचिआरा होइए, किव कूडे तूटै पालि
हुकम रजाई चलणा, नानक लिखिजा नालि।।

"सत्य का साक्षात्कार किस प्रकार हो? झूठ का आवरण कैसे दूर हो?" दूसरी पंक्ति में इस जटिल प्रश्न का उत्तर है- प्रभु की आज्ञा और इच्छा को पहचान कर उसके अनुरूप चलना चाहिए।" संपूर्ण सिख-चिंतन में 'हुकम' का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इस पंक्ति में हुकम के साथ 'रजाई' शब्द है। 'रजाई' अरबी शब्द 'रज़ा' का पंजाबी रूप है, जिसका अर्थ है 'इच्छा'। गुरु नानक के अनुसार प्रत्येक वस्तु उसी हुकम के भीतर है, उसके बाहर कुछ भी नहीं है। उस हुकम को यदि कोई भली-भाँति समझ सके, तो फिर उसे अपने को भिन्न सिद्ध करने वाले अहंभाव का बाँध नहीं होता :

हुकमै अंदरि सभु को, बाहरि हुकम न कोई।
नानक हुकमे जे बुझे, त हउमैं कहै न कोई।।

हुकम चलाने वाले ने हुकम को सदा के लिए प्रवर्तित कर दिया है। उसका पालन करते हुए, निर्द्वंद्व होकर अग्रसर होते रहना ही हमारा कर्त्तव्य है : *हुकमी हुकम चलाए राहु। नानक बिगसै बे परवाहु।*

ओंकार

मूल मंत्र में गुरु नानक के ओंकार के साथ एक लगाकर इस तथ्य को आग्रहपूर्वक दोहराया कि वह परमसत्ता, अपने अनेक रूपों में दिखकर भी मूलत: एक ही है। उस युग में परमात्मा को अनेक देवी-देवताओं के रूप में कल्पित किया जा रहा था। यह विभेद इतना अधिक हो गया था कि हर समुदाय का अपना पृथक इष्ट देव हो गया था और सामाजिक समरसता पूरी तरह खंडित हो रही थी। उस स्थिति में गुरु नानक ने एक ओंकार ੴ की बात कहकर न केवल परमसत्ता के एक ही होने के तथ्य को पुनर्स्थापित किया बल्कि सामाजिक एकता को भी बल दिया।

पट्टी

पट्टी या पटिया उस तख़्ती को कहते हैं जिस पर बालक वर्णमाला लिखना सीखते हैं। इसी परंपरा के आधार पर उस रचना को भी पट्टी कहा जाने लगा जिसमें वर्णमाला की यथाक्रम काव्यमयी व्याख्या प्रस्तुत की गई हो। गुरुमुखी लिपि में 35 वर्ण होते हैं। इस लिपि का विकास तत्कालीन कश्मीर में प्रचलित शारदा लिपि और पहाड़ी प्रदेशों में प्रचलित टक्करी तथा लंडा लिपि के माध्यम से हुआ था। गुरु नानक ने 35 वर्णों के माध्यम से परमात्मा की स्तुति कर उसकी प्राप्ति पर बल दिया है। उनके दार्शनिक और धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति इस काव्य रूप के माध्यम से हुई है।

बारहमासा

तुखारी राग में संकलित यह रचना गुरु नानक के अंतिम दिनों की कृति मानी जाती है। इस रचना में जीवात्मा की परमात्मा से एकात्म होने की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। यह प्रक्रिया वियोग से संयोग की ओर सहज भाव से विकास करती है। नायिका को वियोग से संयोग की ओर ले जाने वाला काव्य रूप है बारहमासा। साधारणतया पहले 11 मासों में वियोग का चित्रण होता है और अंतिम में संयोग सुख की प्राप्ति होती है। यह सुख लौकिक नहीं अलौकिक है।

वार-काव्य

गुरु नानक के माझ, आसा और मलार रागों में वारें भी हैं। लोक परंपरा पर आधारित 'वार' पंजाबी भाषा के एक काव्य-रूप का नाम है। वार में सामान्यत: वीर काव्य की रचना होती रही है। गुरु नानक ने सर्वप्रथम वार को वीर रस के क्षेत्र से निकाल कर आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए उपयोग किया। ये तीनों वारें मूल रूप से पउड़ियों में लिखी गई थीं। इनमें अधिकतर एकेश्वरवाद गुरु-महिमा, नाम स्मरण एवं रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की गई है।

आसा की वार : यह वार गुरु नानक की एक बहुचर्चित रचना है। सिख धर्म की नित्य की सभाओं तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर इसका कीर्तन किया जाता है। इस बार में गुरु नानक रचित 24 पउड़ियों और 45 सलोक हैं। शेष 15 सलोक गुरु अंगद के हैं।

माझ की वार : इस वार में 27 पउड़ियाँ और 46 सलोक हैं। शेष सलोक अन्य गुरुओं के हैं। इसके गठन, वस्तु-संयोजन, भाव-गांभीर्य को देखते हुए इसे गुरु नानक की प्रौढ़ावस्था की कृति स्वीकार किया जाता है।

मलार की वार : इस वार में 28 पउड़ियाँ और 24 सलोक हैं। इसमें कुरीतियों और कलुषित परंपराओं का त्याग कर वास्तविक धर्म में लीन होने की भावना की प्रधानता है। बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन है।

फुटकल पद्य : गुरु नानक के अलग-अलग अवसरों पर और विभिन्न परिस्थितियों में उचारे गए ऐसे पद भी हैं जिन्हें चौपदे अष्टपदियाँ, छंत, सोहले और सलोक कहा जाता है। ❑

(प्रकाशन विभाग की पुस्तक 'गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहब तक' से)

गायन की विभिन्न धाराओं का रसास्वादन

पं. विजयशंकर मिश्र



बनारस घराने से जुड़े। अब तक सात पुस्तकें और करीब 7000 आलेख प्रकाशित। भारत सरकार के जूनियर और सीनियर फेलोशिप सहित लगभग दो सौ प्रतिष्ठित मान-सम्मान और उपाधियाँ प्राप्त। विगत 45 वर्षों से संगीत के अध्यापन-कार्य से संबद्ध।

पिछले दिनों दिल्ली सरकार और साहित्य कला परिषद् के सौजन्य से कमानी सभागार में आयोजित त्रि-दिवसीय ठुमरी महोत्सव में यह बात एक बार फिर स्थापित हो गई कि सृजनात्मकता की दृष्टि से हमारी सांगतिक कलाओं का कोई मुक़ाबला नहीं है। पं. सारथी चटर्जी और विदुषी अश्विनी भिड़े देशपांडे की ख्याति यद्यपि ख्याल गायक के रूप में है लेकिन इन दोनों ही कलाकारों ने अपने ठुमरी गायन से भाव-विभोर कर दिया। युवा गायक गणेश प्रसाद मिश्र ने भी अपनी सुंदर प्रतिभा का अच्छा प्रदर्शन किया। पं. सारथी चटर्जी ने राग मिश्र पीलू में 'बैंया पकड़ लीनी श्याम कैसे जाऊँ मैं अपने धाम' से अपने कार्यक्रम का शुभारंभ किया। मिश्र चारुकेशी की दादरानुमा रचना 'बालम नहीं आए मोरे पास' को उन्होंने भावपूर्ण अंदाज़ में प्रस्तुत किया, बीच-बीच में विषय से संबंधित शेर और दोहे आदि भी थे। समापन मिश्र खमाज की प्रसिद्ध बंदिशी ठुमरी 'कोयलिया कुहूक सुनावे' से किया। अंतिम रचना में बोल-बनाव का अच्छा प्रदर्शन था। बनारस घराने के युवा गायक गणेश प्रसाद मिश्र ने पहला स्वर लगाते ही महफ़िल को अपनी ओर मोड़ लिया। बनारस की विशेष पहचान 16 मात्र के जत ताल की विलंबित लय में जब उन्होंने अपने पिता ठुमरी सम्राट पं. महादेव प्रसाद मिश्र की विख्यात ठुमरी 'मुरलिया ना बजाओ श्याम, व्याकुल भई ब्रज बाम' को छेड़ा तो जैसे पूरे सभागार से मुरली की धुन सुनाई पड़ने लगी। बुलंद और खुली आवाज़, कण स्वरों और मूर्छना का सुविचारित प्रयोग करते हुए बोल-बनाव में अच्छी कल्पनाशीलता का भी परिचय दिया गणेश प्रसाद मिश्र ने। इसके बाद दादरा ताल की द्रुत लय में जब दादरा 'डगर बीच कैसे चलूं मग रोके कन्हैया' को गाना शुरू किया तो लोग भी गुनगुना उठे। गणेश आने वाले समय में एक बहुत ही अच्छे गायक के रूप में प्रतिष्ठित होंगे, इसका विश्वास उनका गायन दिला रहा था।



गणेश प्रसाद मिश्र

समापन विदुषी अश्विनी भिड़े देशपांडे के मर्मस्पर्शी भावपूर्ण गायन से हुआ। अपनी दो शिष्याओं श्वेता किलपाड़ी और शिवानी कल्याणपुर के साथ राग मिश्र तिलककामोद में बोल-बनाव की ठुमरी 'बैरन रतियां कैसे आऊं तुम रे ढिंगवा' से अपने गायन की सुंदर शुरुआत की। एक-एक स्वरों का बंद खोलते हुए विस्तार किया इन्होंने। अश्विनीजी ने अपने गायन का समापन एक भावपूर्ण कजरी से किया 'मोरी चुनरिया भींजल जाए।' अश्विनी के गायन की बहुत बड़ी विशेषता उनकी भाव प्रवणता है। एक नर्तकी जो अभिनय अपने शारीरिक अंगों से करती है, उसे अश्विनी अपने गले से अभिव्यक्त करती हैं।

● ध्रुवपद गायन के विकास में बिहार प्रांत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रभाकर नारायण पाठक बिहार के युवा एवं प्रतिभाशाली गायक हैं, जिनके ध्रुपद गायन में आक्रामकता नहीं आकर्षण है। अत्यंत सरस भावप्रधान चित्ताकर्षक और दिल की गहराइयों में उतर जाने वाली गायकी है इनकी। ये न केवल ध्रुवपद गाते हैं, बल्कि ध्रुवपद गायन के प्रचार-प्रसार में भी लगे रहते हैं। पिछले दिनों हैबीटेट सेंटर में इन्होंने दो-दिवसीय भव्य आयोजन- पं. क्षितिपाल मल्लिक ध्रुवपद सोसायटी की ओर से आयोजित किया। दोनों दिन का समारोह नई पीढ़ी के कुछ कलाकारों की सामूहिक प्रस्तुतियों से आरंभ हुआ। पहले दिन प्रभाकर नारायण पाठक ने स्वयं भी गाया। देस आदि जैसे रागों में ध्रुवपद का गायन कम ही होता है और होता भी है तो बहुत संक्षिप्त। लेकिन, प्रभाकर ने आज जिस



प्रभाकर नारायण पाठक

***संपर्क** : 'शंकरा', 705 डी/21 सी, वार्ड सं. 3, महरौली, नई दिल्ली-110030*
मो. 9810517945

तरह से देस की मनभावन प्रस्तुति की वह न केवल उनकी पुख़्ता तालीम बल्कि स्वचिंतन का भी-परिचायक था। देस में सुविचारित आलाप के बाद चैताल में जब उन्होंने 'ये सखि सावन आयो' आरंभ किया तो उनके सरस गायन ने सबके हृदय को जैसे शीतल कर दिया। उसके बाद धमार में 'ये अति धूम मचाई कन्हाई रे' की प्रस्तुति भी पखावज वादक के साथ लड़ंत-भिड़त के बावजूद कर्णप्रिय बनी रही। इसके बाद द्रुत लय सूलताल में 'उमड़ घुमड़ घन छाई बदरा' की ज़ोरदार प्रस्तुति के साथ उन्होंने अपने गायन को विराम दिया। पं. जगत नारायण पाठक ने राग श्री की सुंदर और संक्षिप्त अवतारणा की। उनकी दोनों रचनाएँ आकर्षक थीं- राजत चंद्रमा ललाट और बैजू बावरा रचित- शिव गंगे। पखावज पर गौरव शंकर उपाध्याय ने अच्छी संगत की। इस समारोह का समापन पद्मभूषण गोस्वामी गोकुलोत्सवजी महाराज और उनके सुपुत्र ब्रजोत्सवजी महाराज के भावपूर्ण युगल गायन से हुआ। संगत के लिए पखावज पर महेशचंद्र भगड़िया, तबले पर प्रदीप सरकार और सारंगी पर घनश्याम सिसोदिया उपस्थित थे। महाराजजी एक बार पखावज की संगति में ध्रुवपद अंग से गाते थे तो एक बार तबले की संगति में ख्याल अंग से। महाराजश्री ने कार्यक्रम का समापन एक स्वरचित राग से किया जिसमें जयजयवंती आदि कई रागों की छाया थी।

● लोक कला, मंच कला और संस्कृति को समर्पित एक ऐसी संस्था है जो विगत अनेक वर्षों से कला और संस्कृति के संरक्षण में प्राणपण से जुटी हुई हैं। पिछले दिनों इस संस्था ने संगीत का एक मनोरम कार्यक्रम आयोजित किया जिसमें त्रिकल तबला वादन और गायन के सुंदर कार्यक्रम संपन्न हुए। कार्यक्रम का शुभारंभ दिल्ली के तीन युवा तबला वादकों के वादन से हुआ। दीपक कुमार, अमन पथारे और महावीर राजपूत ने उमेश साहू की हारमोनियम संगति में त्रिताल में प्रभावशाली वादन किया। इनका आपसी तालमेल, सामंजस्य और एक-दूसरे के प्रति सहयोग की भावना देखकर अच्छा लगा। एक जहाँ पर छोड़ता था दूसरा वहीं से अगले बोल को लेकर आगे बढ़ जाता था। अनेक अच्छे बोलों का इन तबला वादकों ने प्रभावी वादन किया। बिहार प्रांत की सुप्रसिद्ध गायिका नलिनी जोशी आज राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित हैं। देश के अनेक प्रतिष्ठित मंचों के साथ-साथ अनेक दूसरे देशों में भी इन्होंने अपने सुरों का अलख जगाया है। नलिनी ने तस्मैश्री गुरवे: नम: नामक इस कार्यक्रम का शुभारंभ गुरु वंदना से करने के पश्चात् गणेश वंदना की भावपूर्ण प्रस्तुति की। बनारस के ठुमरी की कुछ अपनी विशेषताएं हैं जो अन्यत्र नहीं मिलती हैं। उनमें से एक है इसका गांभीर्य। राग सूरमल्हार की रचना 'सावन आए श्याम नहीं आए' को नलिनी ने जब 16 मात्रो के जततताल की ठहरी लय में गाते हुए सुंदर आलाप और बोल-बनाव से सजाना शुरू किया तो ठुमरी जैसे लोगों के दिलों में भी ठुमकने लगी। नलिनी इसके बाद श्रृंगारिक रचनाओं की ओर मुड़ीं और ताल दादरा में एक बारहमासा- नई झूलनी के छैया तथा कहरवा में एक झूला-झूला धीरे से झुलाओ- को श्रृंगारिक अंदाज़ में प्रस्तुत किया। कार्यक्रम का समापन एक सुंदर कजरी से हुआ। नलिनी जोशी की इन बहुविधा रचनाओं के साथ उदयशंकर मिश्र ने भी अपने तबले से अलग-अलग रंगों को प्रदर्शित किया। शंभु सिसोदिया और ललित सिसोदिया ने क्रमश: सारंगी और हारमोनियम पर अच्छा साथ निभाया। धन्यवाद ज्ञापन लोककला मंच के सीनियर मैनेजर उदयवीर सिंह ने किया।


नलिनी जोशी

● कला संस्कृति को समर्पित दिल्ली से प्रकाशित पत्रिका 'प्रेस ज़ोन', संगीत नायक पंडित दरगाही मिश्र संगीत अकादमी (गुरुग्राम) एवं सम्मान आर्ट्स सोसाइटी (दिल्ली) के संयुक्त तत्वावधान में पिछले दिनों महान शायर मिर्ज़ा ग़ालिब की याद में एक शाम सजाई गई जिसमें ग़ालिब के जीवन के कई अनदेखे पक्षों को भी जानने के सार्थक प्रयास हुए। सरफ़राज़ अहमद ने अपने स्वागत भाषण में कहा कि मुग़लों ने भारत को तीन महान चीज़ें दी हैं- उर्दू जुबान, ताजमहल और ग़ालिब। अभिनेत्री सुषमा सेठ ने अपने संक्षिप्त वक्तव्य में ग़ालिब के जीवन में आए तमाम तरह की परेशानियों और उनके परिणाम स्वरूप लिखी गई उनकी ग़ज़लों पर प्रकाश डाला। लक्ष्मी शंकर वाजपेयी ने साहित्यिक परिप्रेक्ष्य में ग़ालिब की विभिन्न रचनाओं की सारगर्भित व्याख्या करते हुए उनके ज़माने के एक और मशहूर शायर ज़ौक़ जो बहादुर शाह ज़फ़र के उस्ताद भी थे- से उनकी छेड़-छाड़, नोंक-झोंक और प्रतिद्वंद्विता पर रोचक ढंग से प्रकाश डाला। उन्होंने ग़ालिब की कई मशहूर ग़ज़लों को पढ़ते हुए बताया कि आज भी इनकी प्रासंगिकता बरक़रार है। इसलिए ग़ालिब अमर हैं। दोनों सम्मानित अतिथियों को लाइफ़टाइम अचीवमेंट अवॉर्ड से सम्मानित किया।

● मीलू वर्मा नई पीढ़ी की बहुचर्चित गायिका हैं। उन्होंने ग़ालिब की कई सुनी-अनसुनी रचनाओं को गाकर इस शाम को यादगार बना दिया। मीलू की आवाज़ में एक अलग तरह की गहराई है, वे शायर के जज़्बात को समझकर गाती हैं।


मीलू वर्मा

इसके बाद युवा कथक नृत्यांगना अस्मिता मिश्र ने ग़ालिब की रचनाओं पर सम्मोहक अभिनय किया। अस्मिता ने अपने शानदार अभिनय से ग़ालिब को जैसे मंच पर साकार कर दिया। उनके नृत्य में भावपूर्ण अभिनय की गहराई दिखी। अस्मिता के नृत्य में अभिनय की अपार संभावनाओं के दर्शन हुए। मीलू वर्मा और अस्मिता मिश्र को सुषमा सेठ ने क्रमश: स्वर तारिका और अभिनय तारिका सम्मान से सम्मानित किया। अभिनेता अब्बास हैदर नक़वी ने जब ग़ालिब की वेशभूषा और रूप-सज्जा में मंच पर पदार्पण किया तो एक बार तो पूरा सभागार ही चौंक पड़ा। फिर उन्होंने अपनी दमदार आवाज़ में ग़ालिब के जीवन की कुछ घटनाओं का ज़िक्र इस अंदाज़ में किया जैसे वे ही ग़ालिब हैं। इस अवसर पर 'प्रेस ज़ोन' पत्रिका के ग़ालिब विशेषांक का लोकार्पण भी हुआ। ❑

विचारों की गंभीरता को रूपायित करती पत्रिकाएँ

प्रांजल धर



जन्म : मई, 1982 (उ.प्र.)। पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ, आलोचना, समीक्षा आदि प्रकाशित। अवधी व अंग्रेज़ी भाषा में भी लेखन। 5 पुस्तकें प्रकाशित। कई पुस्तकों का संपादन। बीबीसी और वेब दुनिया समेत अनेक वेबसाइटों पर लेख और कविताओं का प्रकाशन। भारतेंदु हरिश्चन्द्र पुरस्कार सहित कई पुरस्कारों से सम्मानित।



नया ज्ञानोदय
संपादक : मधुसूदन आनंद
संपर्क : भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003
दूरभाष : 011-24626467, 24698417
मूल्य : 50 रुपये

'नया ज्ञानोदय' का अगस्त 2019 अंक कहानी विशेषांक है। इस विशेषांक में नए लेकिन प्रायः पहचाने हुए कथाकारों की कहानियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इसमें कहानी प्रकाशित करने के दो मापदंड अभिव्यक्त किए गए हैं। पहला पठनीयता-रोचकता तथा दूसरा कथ्य और शिल्प के स्तर पर नया यथार्थ देने और कहानी को कहने की सामर्थ्य। इधर शिल्प में नए प्रयोग भी हुए हैं, भले ही कुछ लोगों को लगता हो कि रूप को सँवारने में कथ्य की अवहेलना कर दी गई है। दिव्या विजय, श्रद्धा थवाईत, जयश्री राय, आकांक्षा पारे काशिव, कबीर संजय, दुष्यंत, तरुण भटनागर, राकेश मिश्र, उमाशंकर चौधरी, वंदना राग, पराग मांदले, प्रियदर्शन, संजय कुंदन, पंकज मित, रणेन्द्र, जया जादवानी और नीला प्रसाद की कहानियाँ पठनीय हैं। अंक में परिचर्चा के विषय के रूप में कहानी के समकाल को रखा गया है, जिसके अंतर्गत सुधांशु गुप्त के संयोजन में हिन्दी के नौ प्रतिष्ठित संपादकों के विचार पेश किए गए हैं- संजय सहाय ('हंस'), हरिनारायण ('कथादेश'), शंभुनाथ ('वागर्थ'), शंकर ('परिकथा'), विजय राय ('लमही'), अशोक मिश्र ('बहुवचन', 'पुस्तक वार्ता'), राकेशरेणु ('आजकल'), अपूर्व जोशी ('पाखी') और देश निर्मोही ('पल-प्रतिपल')। राजेंद्र माथुर और मनोहर श्याम जोशी पर पत्रकार आलोक मेहता ने एक लंबा और शानदार लेख लिखा है 'नया ज्ञानोदय' का सितंबर 2019 अंक महात्मा गाँधी के जन्म के डेढ़ सौ वर्ष पूरे होने पर केंद्रित है और इसमें कुमार प्रशांत, अजय तिवारी और राकेश मिश्र के आलेख गंभीर, विश्लेषणपरक तथा मार्मिक हैं। स्पैनिश और चेक कहानियाँ इस अंक को सुंदर और समावेशी बनाती हैं। अक्तूबर अंक में सुप्रसिद्ध कवि-आलोचक जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ सृष्टि की चिंता करती हैं, ख़ासकर 'पुतलियाँ पृथ्वी का सबसे पुराना एलबम हैं' नामक कविता।

संपर्क : जी-22, एनपीएल कॉलोनी, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली-110060
मो. 9990665881



चौपाल
संपादक : कामेश्वर प्रसाद सिंह
अतिथि संपादक : दुर्गाप्रसाद अग्रवाल
संपर्क : कोठी नं. 3, अरुणा नगर, एटा-207001 (उ.प्र.)
मो.: 9410068984
मूल्य : 50 रुपये

'चौपाल' का ताज़ा अंक वरिष्ठ आलोचक और हिन्दी साहित्य के मौन साधक मोहनकृष्ण बोहरा के अवदान पर केंद्रित एक विशेषांक है। दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने अपने संपादकीय में मोहनकृष्ण बोहरा के जीवन और साहित्य के अनेक पहलुओं को प्रसंग सहित याद किया है। प्रियदर्शन ने अपने संस्मरणात्मक आलेख 'एक मूल्यवान परिचय से जुड़ी कुछ यादें' के अंतर्गत लिखा है कि मोहनकृष्ण बोहरा ने अगर सबसे ज़्यादा काम किसी सिलसिले में किया तो वह तसलीमा नसरीन का लेखन है। जब 'लज्जा' छपकर आई और विवादों में घिर गई तो उसके बाद बोहराजी ने तसलीमा को ध्यान से पढ़ना शुरू किया। इसके बाद मोहनकृष्ण बोहरा की दो किताबें आईं- 'तसलीमा के हक़ में' और 'तसलीमा : संघर्ष और साहित्य'। माधव हाड़ा का आलेख 'निष्ठा, मनोयोग और ईमानदारी का दुर्लभ मनुष्य संयोग' इस बात पर ज़ोर देता है कि बोहराजी ने सैद्धांतिक-व्यावहारिक सभी तरह की आलोचना लिखी और व्यावहारिक आलोचना में उनका दख़ल कुछ ज़्यादा ही रहा। सूर्यनाथ सिंह ने बोहराजी को 'ऊर्जावान जुनूनी रचनाकार' कहा है।



बनास जन (रवीन्द्र कालिया विशेषांक)
संपादक : पल्लव
संपर्क : 393, डी.डी.ए., ब्लॉक सी एंड डी कनिष्क अपार्टमेंट, शालीमार बाग़, दिल्ली-110088
मो. : 8130072004
मूल्य : 75 रुपये

'बनास जन' का ताज़ा अंक नामवर सिंह, कृष्णा सोबती और गिरीश करनाड की स्मृति में प्रकाशित किया गया है। नामवर सिंह के संदर्भ में हिमांशु पण्ड्या का श्रद्धांजलिपरक आलेख 'दूसरी परंपरा क्या है' पठनीय आलेख है। भक्ति आंदोलन की पहचान पर पुनर्विचार करते हुए माधव हाड़ा ने 'अतिव्याप्ति में अलक्ष्य' शीर्षक से एक लेख लिखा

है। जिसमें उनका विचार है कि "भक्ति आंदोलन की फ़िलहाल एक देशव्यापी और एकरूप पहचान बन गई है, जो ग़लत हे। देशव्यापी और दीर्घकालीन होने के कारण हमारी सांस्कृतिक विविधता के अनुसार कई रूप बने और बिगड़े। ये रूप कुछ समानताओं के बावजूद एक-दूसरे से बहुत अलग-अलग तरह के थे।" प्रमीला केपी का लेख 'दलित : शब्द स्वत्व और स्त्रीत्व' अत्यधिक विश्लेषणपरक और सुचिन्तित आलेख है। गरिमा श्रीवास्तव ने 'आवाज़ें जो सुनी नहीं गईं' नामक अपने शोधात्मक आलेख में सांस्कृतिक-इतिहास की दरारों को पाटने का सार्थक प्रयत्न किया है। स्त्रीवादी इतिहास, लेखन इतिहास का मूल्यांकन जेंडर के नज़रिए से करने का पक्षधर है। इसमें मुख्यधारा के इतिहास से छूटे हुए, अनजाने में या जानबूझकर उपेक्षित कर दिए गए वंचितों का इतिहास और उनका लेखन शामिल किया जाता है। महेश वर्मा और अच्युतानंद मिश्र की कविताएँ अंक की शोभा बढ़ाती हैं। विजय कुमार की 'खिड़की' और कुमार अम्बुज की 'संसार के आश्चर्य' कहानियाँ पाठकों का ध्यान खींचती हैं क्योंकि इनमें ग़ज़ब की पठनीयता है। नवल किशोर की पुस्तक 'प्रेमचंद की प्रगतिशीलता' के संदर्भ में कवि-आलोचक जितेंद्र श्रीवास्तव का लेख प्रेमचंद से जुड़े आलोचकीय कर्म को रोचक तरीके से उद्घाटित करता है। जितेंद्र श्रीवास्तव के लेखन की खूबी यह है कि वे घटनाओं को तत्कालीन वैश्विक विचारपरक समग्रता में देखते हें और पाठकों के सामने उस घटना-विशेष के समय के वैश्विक तापमान और वातावरण को सरल-सहज भाषा में प्रस्तुत कर देते हैं। कथेतर गद्य के अंतर्गत देवेंद्र चौबे, राजेन्द्र राव और असग़र वजाहत के आलेख पठनीय हैं।



पूर्वग्रह
संपादक : प्रेमशंकर शुक्ल
संपर्क : भारत भवन न्यास, जे. स्वामीनाथन मार्ग, शामला हिल्स, भोपाल-462002
दूरभाष : 2660239, 2661398
मूल्य : 30 रुपये

'पूर्वग्रह' का ताज़ा अंक एक संयुक्तांक है जिसमें युवाओं की रचनाशीलता को सामने लाने की कोशिश की गई है। संपादकीय में इस तथ्य को रेखांकित किया गया है कि हिन्दी में इस समय अनेक तेजस्वी और प्रतिभाशाली युवा लेखक सक्रिय हैं। कविता, कहानी और आलोचना के क्षेत्र में उनका काम प्रभावी होने के साथ ही नई दृष्टि को उद्घाटित करने वाला भी दिखाई दे रहा है। प्रभाकर माचवे की स्वच्छंद छंद-सी कविता पर प्रयाग शुक्ल का आलेख 'आत्मानंद और अंतर्दाह के कवि' पाठकों को कविता की पूरी गहराई में ले जाने में समर्थ है। राजस्थान के कवियों पर केंद्रित ओम निश्चल का आलेख 'उत्तर जीवन में कवि' बेहद समग्रतापरक है। अंक में रामकुमार तिवारी, प्रांजल धर, प्रेमरंजन अनिमेष, निशांत, मालिनी गौतम, पारुल पुखराज, भरत प्रसाद, अखिलेश्वर पाण्डेय, मनोज कुमार झा, पल्लवी त्रिवेदी, वीरू सोनकर, मिथिलेश कुमार राय और नताशा की कविताएँ प्रकाशित हैं जो शिल्प के स्तर पर ही नहीं, विषय के स्तर पर भी वैविध्य को रूपायित करती हैं। अनघ शर्मा की कहानी 'खारे पानी के पुल' पाठकों को आंदोलित करती है। चीन के मशहूर शेनजेन औद्योगिक क्षेत्र में कार्य करने वाले मज़दूर सू लिज्ही ने 2014 में काम की नारकीय स्थितियों से तंग आकर आत्महत्या कर ली थी। लिज्ही कविताएँ भी लिखा करते थे और उनकी कविताओं का अनुवाद सविता पाठक ने किया है। ये कविताएँ बहुत मार्मिक हैं। रमेशचंद्र शाह की कविताओं पर सुनीता रानी घोष का लेख पठनीय है।



समकालीन भारतीय साहित्य
अतिथि संपादक : ब्रजेन्द्र त्रिपाठी
संपर्क : साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली-110001
दूरभाष 011-23073312, 23386626
मूल्य : 50 रुपये

'समकालीन भारतीय साहित्य' के नए अंक का संपादकीय आदिवासी विमर्श और पर्यावरण असंतुलन पर केंद्रित है जो निश्चय ही हमारे समय की बड़ी और वाजिब चिंताओं में से एक है। संपादकीय कहता है कि पिछले पचास-साठ सालों में ढाई सौ भाषाएँ विलुप्त हो चुकी हैं और कई भाषाएँ विलुप्त होने के ख़तरे का सामना कर रही हैं। आज भारत में चार सौ से अधिक भाषाएँ आदिवासी और घुमंतू तथा ग़ैर-अधिसूचित जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं। सांस्कृतिक और भाषायी विविधता के अद्भुत संगम भारत में कुछ संस्थाएँ ऐसी भी हैं जो लगातार इन भाषाओं के संरक्षण-संवर्द्धन का कार्य कर रही हैं। मनोज पाण्डेय का लेख रसवाद के प्रतिष्ठापक नगेन्द्र पर केंद्रित है। कवि मोहन कुमार डहेरिया की कविताएँ यथार्थ की जटिल परतों को उद्घाटित करती हैं। वर्षा अडालजा की गुजराती कहानी, वाजिद हसन काज़ी की राजस्थानी कहानी और जियो लक्ष्मण की तेलुगु कहानी कथ्य की भारतीय विविधता को चित्रित करती है। मॉरीशस डायरी के अंतर्गत देवेंद्र चौबे का यात्रा वृत्तांत 'यह, वह देश तो नहीं' रोचक भी है और उस वतन के बारे में बहुत सारी बारीक जानकारियाँ भी देता है। नेपाली रचनाकार असित राई का निधन निश्चय ही साहित्य की एक गंभीर क्षति है और उन पर संस्मरणात्मक आलेख लिखा है बिर्ख खडका डुवर्सेली ने। हिन्दीतर कविताओं में वर्षा दास (गुजराती), मनोरमा बिश्वाल महापात्र (ओड़िया) और वेद राही (डोगरी) की कविताएँ मर्मबेधी और पठनीय हैं।



प्रतिमान ('बदलता हुआ संघ परिवार' पर केंद्रित विशेषांक)
प्रधान संपादक : अभय कुमार दुबे
संपर्क : विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) 29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054
दूरभाष : 011-23942199
मूल्य : 350 रुपये

'प्रतिमान' का नया अंक 'बदलता हुआ संघ परिवार' पर केंद्रित एक विशेषांक है जिसमें संपादकीय बहुसंख्यकवादी समय में लोकतंत्र और विमर्श की चिंताओं को रूपायित करता है। जनता का संप्रभु और बहुसंख्यकवाद नामक सामयिक विषय पर पार्थ चटर्जी का लेख समाज-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समकालीन समाजार्थिक-राजनैतिक वातावरण का वर्णन-विश्लेषण करता है। कमल नयन चौबे ने सोशल मीडिया और मतदाता के आपसी संबंधों पर प्रकाश डाला है। निशिकांत कोलगे का आलेख दलित आंदोलन के लिए गाँधी-अम्बेडकर बहस के सबक से सीखने पर ज़ोर देता है। भाषा और वि-उपनिवेशीकरण पर एकाग्र संवाद गंभीर विचारों का कारख़ाना है। दस्तावेज़ की शक्ल में मनोज मोहन ने कुछ ज़रूरी पुस्तकों का उल्लेख किया है। सुधीश पचौरी ने नामवर सिंह को और पंकज कुमार बोस ने कुँवरनारायण को श्रद्धांजलिस्वरूप याद किया है।



शीराज़ा
मुख्य संपादक : अज़ीज़ हाजनी
संपर्क : जम्मू-कश्मीर कला, संस्कृति एवं भाषा अकादेमी, जम्मू-180001
दूरभाष : 0191-2577643, 2579576
मूल्य : 10 रुपये

'शीराज़ा' के नए अंक के संपादकीय में प्राचीन भारतीय मूल्यपरक शिक्षा के महत्व को उद्घाटित करते हुए वैश्वीकरण के दौर में जीवन मूल्यों के विघटन पर चिंता व्यक्त की गई है। विविध सकारात्मक आंदोलनों, सर्जनात्मक साहित्यिक प्रवृत्तियों और अन्य रचनात्मक सामाजिक गतिविधियों को सक्रिय करने में 'शीराज़ा' का भी योगदान उल्लेखनीय रहा है, भले ही यह योगदान बहुत बड़ा न हो। वेद कुमार घई का लेख 'भारतीय परंपरा में संघर्षों का समाधान' और अनिला सिंह चाड़क की ग़ज़लें पठनीय ही नहीं, सराहनीय भी हैं। लोक-साहित्य के अंतर्गत रामसिंह यादव ने 'ऊँट और काना सियार' नामक रोचक लोक कथा प्रस्तुत की है।



प्रेरणा
संपादक : अरुण तिवारी
संपर्क : प्रेरणा पब्लिकेशन, देशबंधु भवन, प्रथम तल, 26बी, प्रेस कॉम्प्लेक्स, एमपी नगर, ज़ोन-1, भोपाल-462042 (म.प्र.)
दूरभाष : 0755-2422109, 4075731
मूल्य : 50 रुपये

'प्रेरणा' का नए अंक में संतोष चौबे और शशिभूषण द्विवेदी के आलेख पठनीय हैं क्योंकि ये समय की परिक्रमा करते हैं। हीरालाल नागर की कविताएँ पाठकों तक हीरामणि की कथा-संवेदना को पहुँचाती हैं। सुभाष रस्तोगी की कहानी 'नई सुबह' सड़क पर पैदा होने वाली फुलिया और भीख माँगने की विवशता को साहित्यिक-मार्मिक तरीके से प्रस्तुत करती है, जहाँ सत्य की कठोरता को जाँच-परख लिया गया है और सबके हित की भावना को केंद्र में रखा गया है।

कुछ और पत्रिकाएँ

● 'साखी' का नया अंक केदारनाथ सिंह पर केंद्रित 575 पन्नों का एक संग्रहणीय विशेषांक है। संपादक सदानंद शाही ने इस अंक का बहुत विराट संयोजन किया है। जितेन्द्र श्रीवास्तव का लेख 'केदारनाथ सिंह का काव्य वैभव' साहित्यिक बारीकियों के साथ कवि और कविता को समग्रता में प्रस्तुत करता है। सूर्यनाथ सिंह ने कविता में कहानी के सूत्रसंपर्कों की सार्थक खोज की है और पंकज चतुर्वेदी का आलेख पाठकों को नए कोणों से कविता पर विचार करने को विवश करता है। प्रयाग शुक्ल, उदय प्रकाश, राजेश जोशी, मदन कश्यप और अमिताभ राय के लेख पठनीय हैं।

● 'हंस' के अक्तूबर अंक का संपादकीय 'अंतरिक्ष से सड़क तक' तमाम अंतर्विरोधों और विसंगतियों का जायज़ा लेता है। यह टीवी चैनलों और समाचार पत्रों की ख़ामोशी पर विनोद भरा कटाक्ष भी करता है। रामचन्द्र गुहा के आलेख का अनुवाद 'महात्मा गाँधी के बारह दूत' शीर्षक से प्रकाशित है। पल्लव का लेख 'शालीन और संयत स्मृति लेख' अनेक संस्मरणात्मक पुस्तकों का सार और तत्व प्रस्तुत करता है जिनमें अजितकुमार की पुस्तकों, विशेषकर 'जिनके संग जिया' और 'वो सूरतें' का निचोड़ है।

● 'कथादेश' के अक्तूबर अंक में हृषीकेश सुलभ के उपन्यास 'अग्निलीक' के अंश प्रकाशित हैं। अंतोन पी. चेखव की रूसी कहानी 'डार्लिंग' एक अलग यथार्थ को हिन्दी पाठकों के सम्मुख रखती है। दलित प्रश्न के अंतर्गत पंजाबी दलित कविता, बारहमासी के तहत ज्ञान चतुर्वेदी का स्तंभ और कबियन की वार्ता के अंतर्गत विश्वनाथ त्रिपाठी का लघु लेख 'शांतिनिकेतन में हिन्दी भवन' पठनीय हैं।

● 'पाखी' का सितंबर अंक बहुविध सामग्रियों को पेश करता है। इनमें उल्लेखनीय हैं- अग्निशेखर का लेख 'आप होते तो खुदकुशी करते', राजेंद्र राजन द्वारा किया गया विवेचन 'मीटू का प्रतिपक्ष रचती कहानियाँ', सुधीश पचौरी का लेख 'हिन्दी साहित्य के सत्तर साल' और प्रेमपाल शर्मा द्वारा अंग्रेज़ी पुस्तकों के संसार पर लिखा गया लेख 'हमारे चाँद पर खून के धब्बे हैं।' सुषमा स्वराज पर पत्रकार और लेखक दयानंद पाण्डेय ने मार्मिक और विश्लेषणपरक विचार प्रस्तुत किए हैं।

● 'संवदिया' के नए अंक में महाकवि निराला पर पठनीय सामग्री दी गई है। पंकज परिमल का ललित निबंध 'राधे-राधे, बरसाने वाली राधे' रोचक है। शिवपूजन सहाय पर भारत यायावर ने और माखनलाल चतुर्वेदी पर मणिकांत ठाकुर ने शोधात्मक सामग्री पाठकों तक पहुँचाई है। विनय मिश्र की ग़ज़लें आमफ़हम शब्दों में मार्मिक बातें कहने में सक्षम हैं।

● 'भवन्ति' का ताज़ा अंक 'गाँधी तेरे देश में' विषय पर केंद्रित है और इस विषय पर अनेक चिंतकों के विचार यहाँ प्रकाशित हैं। इनमें शामिल हैं- सुधीर चन्द्र, हिलाल अहमद, गिरिराज किशोर, रामचन्द्र गुहा, कुमार प्रशांत, जेम्स डब्ल्यू डगलस, सच्चिदानंद सिन्हा और यूनुस खान आदि। यह अंक मौजूदा वैश्विक परिदृश्य में गाँधी विमर्श पर प्रस्थान के लिए पर्याप्त अध्ययन सामग्री उपलब्ध कराता है। प्रेम भारद्वाज का संपादकीय हमेशा की तरह बेहद पैना, गंभीर और विचारोत्तेजक है।

● 'पाठ' का नया अंक नीलाभ पर केंद्रित है। संपादकीय में देवांशु ने नीलाभ के व्यक्तित्व और कृतित्व पर रोशनी डाली है तथा ममता कालिया, विजय बहादुर सिंह, राकेश रंजन और भूमिका द्विवेदी के संस्मरणात्मक आलेख नीलाभ के जीवन के रोचक प्रसंगों को साहित्यिक तरीके से पाठकों के सामने लाते हैं।

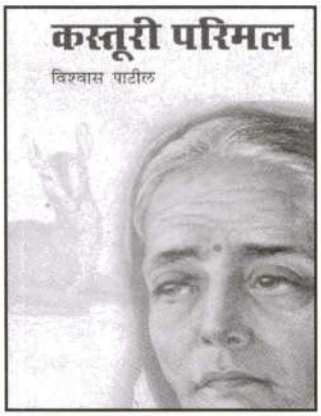
● 'पुस्तक संस्कृति' का 'बा-बापू-150 विशेषांक' गाँधीजी के जीवन के तमाम पहलुओं को सामने लाता है। गोविन्द प्रसाद शर्मा का आलेख गाँधी और जिन्ना पर केंद्रित है और अनु बंद्योपाध्याय की कहानी 'बहुरूप गाँधी' पाठकों तक जटिल विचारों को सरल तरीके से पहुँचाती है।

● 'पुस्तक-वार्ता' का नया अंक कई भाषाओं और साहित्य के मर्मज्ञ पं. विद्यानिवास मिश्र पर विशेष सामग्री पेश करता है। संपादक अशोक मिश्र ने विद्यानिवास मिश्र के लेख 'प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी रहि जाएगी' का उल्लेख किया है जिसमें भाव के साथ भावना का बहुत गहरा रिश्ता दिखता है। नई कहानी के ध्वजवाहक कमलेश्वर पर गंगा प्रसाद विमल का लेख पठनीय है।

● 'हिन्दी जगत' के संपादकीय में सुरेश ऋतुपर्ण ने पुस्तकों की दुनिया को डिजिटल माध्यमों से मिल रही चुनौती पर पठनीय सामग्री पेश की है। गंगा प्रसाद विमल, विश्वनाथ सचदेव और सुशांत सुप्रिय की कविताएँ समकालीन समय की परिक्रमा करती प्रतीत होती हैं।

● 'समहुत' के ताज़े अंक में संपादक अमरेंद्र मिश्र ने गिरिजा कुमार माथुर को उनके शताब्दी वर्ष पर याद किया है। दीपक शर्मा की कहानी 'मंगत पहलवान' तथा पंखुरी सिन्हा और केशव शरण की कविताएँ ध्यान खींचती हैं। ❑

• पुस्तक परिचय



कस्तूरी परिमल

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

लेखक : विश्वास पाटील

पृष्ठ : 266

मूल्य : 210 रुपये

कस्तूरबा, मोहन से महात्मा बनने तक की बापू के जीवनयात्रा के हर मोड़ पर उनकी सहधर्मिणी और सहयात्री बनी रहीं। कथा-रूप में प्रस्तुत कस्तूरबा की इस जीवनी में उनके व्यक्तिगत संघर्षों, गाँधीजी के साथ उनके निरंतर संवाद और स्वयं को गाँधीजी के राष्ट्रीय आंदोलन का अभिन्न भाग बना लेने की मार्मिक गाथा प्रस्तुत की गई है। पुस्तक में बड़े ही सुंदर तरीके से यह भी बताया गया है कि कस्तूरबा, बापू की मात्र अनुयायी नहीं थीं बल्कि अपने चरित्र की दृढ़ता से उन्होंने बापू के व्यक्तित्व को निखारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वास्तव में, भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में, विशेषकर महिलाओं को इस आंदोलन में आगे लाने तथा आश्रम-जीवन में गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों को कार्यरूप देने में बा की प्रेरक और निर्णायक भूमिका रही है।

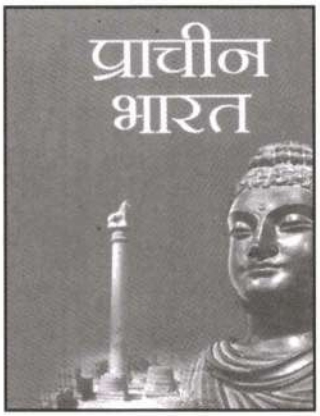
इस पुस्तक में बा की कहानी को चारों वेदो–ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और सामवेद- के संदेश के साथ जोड़ते हुए 4 खंडों में बाँटा गया है। ऋग्वेद का भाव है- गति, ज्ञान और प्रकाश। यजुर्वेद का भाव जोड़ना और समन्वय है। अथर्ववेद प्रेम और सरलता का संदेश देता है जबकि सामवेद जीवन में समता की भावना को बताता है। बा का जीवन इन्हीं महान आदर्शों के समरूप चित्रित किया गया है।

कस्तूरबा का नाम ही, कस्तूरी के परिमल अर्थात् सुगंध से जुड़ा है। बा ने अपनी सरलता के साथ-साथ निष्ठा और दृढ़ता से बापू के और राष्ट्र के जीवन को सुवासित किया। पुस्तक का सुंदर नाम 'कस्तूरी परिमल' इसी भावना का द्योतक है।

"...बापू सूर्य की तरह प्रखर थे। बा चंद्रकला की तरह शीतला थीं। बा मतभेद को मनभेद में नहीं बदलने देती थीं। बा ने बापूजी के विजय अभियान देखे। पराभव को समझा। बापू के पूर्णविराम को अर्थ दिया। बापूजी एक थे। बा शून्य बनीं। दोनों मिलकर दस बने। बा के शून्य के कारण बापूजी का मोल दस गुना बढ़ गया था।"

गरिमामयी कस्तूरबा की यह मार्मिक जीवन-गाथा गाँधीजी के यशस्वी जीवन और कर्म में बा की सहभागिता और सहकार की सुंदर प्रस्तुति है।

पुस्तक के लेखक विश्वास पाटील मराठी के सिद्धहस्त साहित्यकार हैं। पुस्तक का यह प्रेरक और मार्मिक हिन्दी रूप भी उन्होंने स्वयं लिखा है।



प्राचीन भारत

प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

पृष्ठ : 200

मूल्य : 125 रुपये

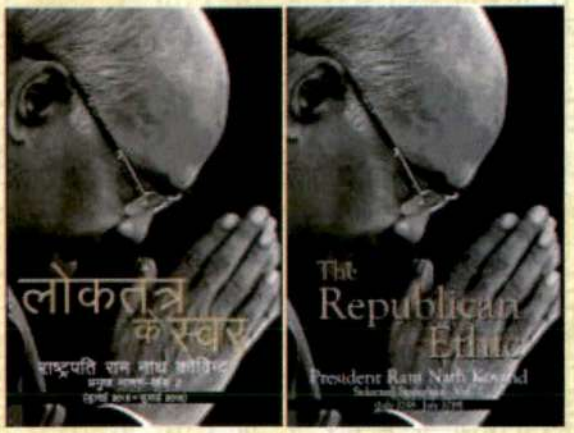
पुस्तक 'प्राचीन भारत' में प्राचीन भारत के विभिन्न साम्राज्यों की सामाजिक, प्रशासनिक, आर्थिक व्यवस्था, सांस्कृतिक एवं सभ्यता की विकास प्रक्रिया को तथ्यों के आधार पर बेहतर तरीके से प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

'हड़प्पा की सभ्यता' शीर्षक के अंतर्गत लेखक प्रभात कुमार बसंत ने हड़प्पा सभ्यता के दौरान कृषि का प्रारंभ एवं विभिन्न क्षेत्रीय परंपराओं के विकास एवं साथ ही हड़प्पा सभ्यता के ह्रास पर सरसरी निगाह डाली है। अगले शीर्षक, 'वैदिक युग' में लेखिका कुमकुम राय ने वैदिक युग के हड़प्पा सभ्यता से संबंध, इस युग में आर्थिक विकास एवं खेती के बढ़ते हुए महत्व, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन को उभारने की कोशिश की है। इसी तरह लेखिका उमा चक्रवर्ती ने अगले दो अध्यायों में बुद्ध के समाजदर्शन एवं बौद्ध साहित्य का विवरण दिया है। अगले अध्याय 'मौर्य वंश' में लेखक हिमांशु प्रभा रे ने मौर्य साम्राज्य की उत्पत्ति, विस्तार एवं पतन, प्रशासनिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति का वृहत् विवरण प्रस्तुत किया है। कुणाल चक्रवर्ती ने तीन अध्यायों में गुप्त वंश के राजनैतिक एवं प्रशासनिक आयामों पर प्रकाश डालने की कोशिश की है। अगले कुछ अध्यायों में लेखक अनिल कुमार त्यागी ने गुप्तवंश के ह्रास के बाद भारत के इतिहास का विवरण दिया है। उन्होंने हर्ष काल में भारत की स्थिति, दक्षिण भारत में राजनीतिक संगठन और प्रशासन, समाज तथा कला आदि विभिन्न पहलुओं पर नज़र डाली है। साथ ही उन्होंने प्राचीन भारत में शिक्षा प्रणाली, शिक्षण संस्थाएं एवं विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की स्थिति पर भी विवेचना प्रस्तुत की है।

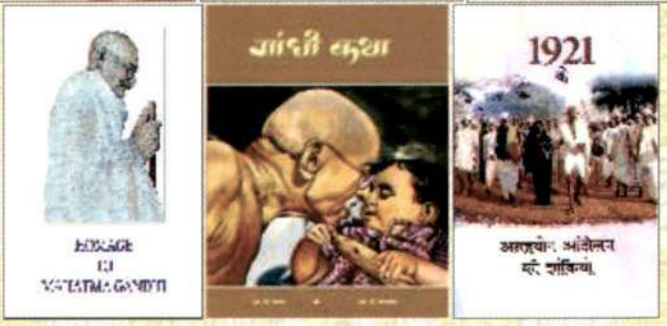
इस पुस्तक का उद्देश्य न सिर्फ़ प्रशासनिक सेवाओं के परीक्षार्थियों को पाठन हेतु सरल भाषा में सामग्री उपलब्ध करवाना है बल्कि इसका प्रधान लक्ष्य यह है कि विद्यार्थियों, विद्वानों या ऐसे अन्य व्यक्तियों के अध्ययन में, जिन्हें प्राचीन भारत के इतिहास के प्रति रुचि और दिलचस्पी हो, उनके लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध हो सके। प्राचीन भारत के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाले ये लेख इतिहास के जाने-माने विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। इन विद्वानों ने प्रत्येक अध्याय को सरल, सुगम एवं संक्षेपत: व्यापक बनाने की पूरी चेष्टा की है जिससे पाठकों को हर काल की बेहतर एवं सरलता से जानकारी उपलब्ध हो सके।

प्रस्तुति : **प्रियंका कुमारी**

हमारे नए प्रकाशन







प्रकाशन विभाग

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली -110003

ऑर्डर के लिए संपर्क करें :

फोन : 011-24367260, 24365610, ई-मेल : businesswng@gmail.com

हमारी पुस्तकें ऑनलाइन खरीदने के लिए कृपया www.bharatkosh.gov.in पर जाएं।

चुनिंदा ई-बुक एमेज़ॉन और गूगल प्ले पर उपलब्ध।

वेबसाइट : www.publicationsdivision.nic.in

फॉलो करें
@ DPD_India

डाक तार पंजीयन सं. डी एल (एस) - 05/3222/2018-20 बिना पूर्व भुगतान के साथ आर.एम.एस. दिल्ली से पोस्ट करने के लिए लाइसेंस यू (डी एन)-49/2018-20
Postal Regn. No. DL (S) - 05/3222/2018-20 दिल्ली डाक आर एन आई 701/57
Licenced U (DN) - 49/2018-20 to post without pre-payment at RMS Delhi Delhi Postal RNI 701/57
• 10 अक्तूबर 2019 को प्रकाशित • 21-22 अक्तूबर 2019 को डाक द्वारा जारी • वार्षिक मूल्य : ₹ 230



प्रकाशक व मुद्रक : ईरा जोशी, प्रधान महानिदेशक द्वारा प्रकाशन विभाग के लिए एजूकेशनल स्टोर्स, गाजियाबाद (उ.प्र.) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित ।
संपादक : फरहत परवीन